बहुत सरल-सी पंक्तियां है, लेकिन इन पंक्तियों में बहुत सार है- यह जो कुछ भी ठाट-बाट दिख रहा है वह "मैं नहीं हूँ" और वह "मेरा भी नहीं"। ऐसा हो जाए तो अपने को ऋषभनाथ बनने में देर न लगे। लेकिन बन नहीं पा रहा है। क्यों नहीं बन पा रहा है? भीतर से पूछो, भीतर की बात पूछो, क्यों नहीं हो पा रहा है। ऋषभनाथ कहते हैं- **तू तटस्थ होकर देख। देखना स्वभाव है, जानना स्वभाव है लेकिन व्यवहार नहीं, चलाकर देखना राग का प्रतीक है। जो हो रहा है, उसे होते हुए देखिये-जानिये।**

एक व्यक्ति जिसको वैराग्य का अंकुर पैदा हुआ है। पर अतीत में बहुत कुछ घटनाएं उसके जीवन में घटी थी। उन सबको गौण कर वह दीक्षित हो गया। दीक्षा लेने के उपरान्त एक दिन का उपवास रहा। अगले दिन चर्या को निकलने वाला था तो गुरुदेव ने कहा- चर्या के लिए जाना चाहते हो? जाओ ठीक है। पर ध्यान रखना! हां.... हां आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। आपकी जो आज्ञा। वह जो सेठ हैं, उन्हीं के यहाँ जाना है। उनका नाम भी बता दिया गया। पर!..... वहाँ महाराज? हां, मैं कह रहा हूँ, वहीं जाना है, अन्यत्र नहीं जाना। पसीना आने लगा नवदीक्षित साधु को, लेकिन महाराज की आज्ञा। अब क्या करें? वह चल दिया। एक-एक कदम उठाते-उठाते चला गया, उसके घर की ओर। वह सोच रहा है- जिसके लिए मैं जा रहा हूँ। वह सम्भव नहीं। अभी भी कुछ बदला भोगना होगा। यह बात उसके दिमाग में गहरे घर करती जा रही है। फिर भी वह उसके सामने तक पहुँच गया। उस सेठ ने दूर से ही मुनि महाराज को देखकर सोचा-धन्य है हमारा भाग्य!....

....नमोऽस्तु..... नमोऽस्तु महाराज! आवाज तो उसी सेठ की है, बात क्या है, क्या उसके स्थान पर कोई अन्य तो नहीं, दीखता तो वही है। उसी के आकार-प्रकार, रंग-ढंग जैसा है। जैसे-जैसे महाराज पास गये वैसे-वैसे वह सेठ और भी विनीत होकर गद्‌गद् हो गया। उसके हाथ कांपने लगे। सोच रहा है- विधि में कहीं चूक न हो जाये, गलती न हो जाय। उधर सेठ नमोऽस्तु.... नमोऽस्तु नमोऽस्तु बोल, तीन प्रदीक्षणा लगाता है। इधर महाराज सोचते हैं कि - यह सब नाटक तो नहीं हो रहा है। क्योंकि इसके जीवन में यह संभव नहीं। मैं तो गुरु-आज्ञा से यहाँ आया हूँ, अन्यत्र जाना नहीं है। झूठ बोल सकने की अब बात ही नहीं, विधि तो मिल गई और पड़गाहन (प्रतिग्रहण) भी हो गया अब....। महाराज! मनशुद्धि, वचनशुद्धि और कायशुद्धि, आहार जल शुद्ध है। महाराज गृह-प्रवेश कीजिए, भोजनशाला में प्रवेश कीजिए- कांपते-कांपते सेठ

ने कहा। मुनिराज सोच रहे थे कि यह कैसा परिवर्तन हुआ, जीवन के आदि से लेकर अभी तक के इतिहास में ३६ का आकड़ा था। लेकिन यहाँ तो ३६ का उल्टा ६३ हो गया, यह कैसे, अभी तक वह ३६ का काम करता था, पर अब! यह ६३ शलाका पुरुषों का ही चमत्कार है। उसने अपने को ६३ शलाका पुरुषों के चरणों में जाकर के अर्थात् तीर्थंकर आदि के मार्ग पर चलने के लिए संकल्प कर लिया, परिवर्तन कर लिया। और लिंग बदलते ही उसका जो बैर जन्मत: था, भव-भव से था, वह टूट गया। किन्तु मुनिराज को अभी इस बात का ज्ञान नहीं था। वह सोच रहे थे कि सम्भव हो-अभी वह बैर भाव मेरे साथ बदला ले ले। लेकिन नहीं। सेठ ने नवधा भक्ति के साथ आहार करवाया और आहार के बाद पैर पकड़कर फूट-फूटकर रोने लगा व कहा- मैंने गलती की, माफ करिये, माफ करिये। मैं भीतरी आत्मा की छवि को नहीं देख पाया था। भीतर ही भीतर ऐसा एक परिवर्तन अब हुआ। मैं बिल्कुल पर्याय बुद्धि अपनाता चला गया। आत्मा की ओर मेरी दृष्टि की नहीं गई। अब मुनि महाराज कहते हैं कि यह दृष्टि मेरी नहीं है भैय्या! मैं तो भगवान् के पास गया था। उनकी शरण में जाने की ही कृपा है कि मुझे इस प्रकार की दिव्य-दृष्टि मिली। माफी तो हम दोनों मिलकर वहीं पर मागेंगे। चलो! तुम भी चलो, साथ उनके चरणों में। वहाँ पहुँचने पर महाराज बालते हैं - क्यों भैया! मुलाकात हो गई? मुलाकात क्या, अब यह मुलाकात कभी मिटने वाली नहीं है। कारण, बैर भाव जो चलता है। वह केवल पर्याय-बुद्धि को लेकर चलता है, यह समझ में आ गया।

आप लोग तो रामायण की बात करते होंगे, लेकिन मैं तो रावण यात्रा की बात करता हूँ। रावण, राम से भी दस कदम आगे काम करने वाला है। वे हलधर थे, तो वे तीर्थंकर बनेंगे। ऐसे तीर्थंकर होंगे सीतारानी का जीव स्वयं गणधर बनेगा। जितना विप्लव दोनों ने मिलकर किया था, उससे कहीं अधिक शान्ति धरती पर करके मोक्ष चले जाएंगे। लक्ष्मण का जीव भी तीर्थंकर बनेगा, सीता का जीव बीच में कुछ पर्याय धारणकर गणधर परमेष्ठी बनेगा। रावण की "ब्राडकास्टिंग" करने गणधर बनकर बैठेगा। अब सोचिये! भव-भव का वह बैर कहाँ चला गया? संसारी प्राणी अतीत की ओर और अनागत की ओर नहीं देखता है। इसके सामने तो एक वर्तमान पर्याय ही रह जाती है। प्रागभाव को भी देखा करो, प्रध्वंसाभाव को भी देखा करो और तद्‌भाव को भी देखा करो, तभी भव-भव का नाता टूट जाएगा। ऐसा भव प्रादुर्भूत हो जायेगा कि जिसका

दर्शन करते ही अनन्तकालीन कषाय की श्रृंखला टूटकर छिन्न-भिन्न हो जायेगी। कितना सुन्दर दृश्य होगा, रावण के भविष्य का उस समय, जब रामायण अतीत का दृश्य हो जाएगा। एक बार चित्र देखा हुआ, यदि दुबारा देखते हैं तो रास नहीं आता। जो नहीं देखा, उसके बारे में बहुत भावना उठती है।

आश्चर्य की बात यह है कि भव-भव में बैर पकड़ने वाले ये जीव एक स्थान पर बैठकर सब लोगों को हित के मार्ग का उपदेश देकर आदर्श प्रस्तुत करके मोक्ष चले जायेंगे।

इस प्रकार की घटनायें (रावण-सीता-राम जैसी घटनाएं) पुराणों में अनन्तों हो गई, भविष्यत् काल में अनन्तानन्त होगी। जब अतीत काल की विवक्षा को लेते हैं तो अनन्त की कोटि में कहते हैं और अनागत की अपेक्षा से अनन्त नहीं, बल्कि अनन्तानन्त कहा जाता है। राम-रावण-सीता जैसी घटनाओं में कभी आप भी राम हो सकते हैं, कभी रावण, और भी कुछ हो सकते हैं। नाम तो पुनः पुनः वही आते जाते हैं। क्योंकि शब्द संख्यात है और पदार्थ अनन्त। "फलाचंद" नाम के कई व्यक्ति हो सकते हैं। इसी सभा में १०.२० मिल सकते हैं। सागर सिटी में ५०-२०० मिल सकते हैं। उस समय यदि किसी की दानराशि, उसी नाम वाले से मांगे तो घोटाला हो जाएगा। अब क्या करें? बोली किसने ली थी क्या पता? इसलिये सागर में भी मुहल्ला एवं अपने पालक का भी नाम बताओ? अर्थात् शब्द बहुत कमजोर हैं। शब्द के पास शक्ति नहीं और ना ही अनन्त है। इसलिए इन सब बातों को भूल जाओ। अभावों में प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव क्या था यह ज्ञात हो गया।

महाराज सोचते हैं कि - वह बैर भाव अभी रह सकता है क्या? नहीं! लेकिन लिंग (भेष) न बदलता तो संभव भी था। क्योंकि सजातीयता थी। लेकिन ज्यों ही मुनिलिंग धारण किया और मुद्रा लेकर चले, त्यों ही उस व्यक्ति के साथ जो बैर चल रहा था, वह जाता रहा। उस सेठ ने सोचा- अब यह वह व्यक्ति नहीं, किन्तु इसका सम्बन्ध तो अब महावीर प्रभु से हो चुका। यह लिंग घर का नहीं है। इसलिए जिनलिंग देखने के उपरान्त समता आ जाती है। **किसी व्यक्ति विशेष का लिंग नहीं है यह। किसी व्यक्ति विशेष की पूजा नहीं है जैनशासन में। किसी एक व्यक्ति का शासन नहीं चल सकता। किसी की धरोहर नहीं। यह तो अनादिकाल से चली जा रही परम्परा है और अनन्तानन्तकाल तक चलती रहेगी।** मात्र नाम की पूजा नहीं, नाम के साथ गुणों का होना भी आवश्यक है। स्थापना निक्षेप

में यही बात होती है- "यह वही है" इस प्रकार का ऐक्य हो जाता है। अर्थात् यह ऋषभनाथ ही है। इसमें और उसमें कोई फर्क नहीं। इस तरह का "बुद्धया ऐक्यं स्थाप्य" बुद्धि के द्वारा एकता का आरोपण करना, जैसा कि कल ही पण्डित जी कह रहे थे- "यह प्रतिमा नहीं भगवान् हैं, ऐसी ताकत होती है। तब कहीं वह बिम्ब सम्यग्दर्शन के लिए निमित्त बन सकता है, नहीं तो वह अभिमान का भी कारण है। इसीलिए किसी व्यक्ति को स्मरण में न लाकर उसे प्रागभाव की कोटि में ले जाइये। यदि प्रागभाव की कोटि में चला गया तो उसका क्षय हो चुका। इसीलिए अब उस व्यक्तित्व का भी सम्बन्ध नहीं। उस भाव और इस भाव के बीच में अन्तर हो गया है। वह तब राग के साथ सम्बद्ध था, पर अब वीतरागता से संबद्ध। "जो व्यक्ति इस प्रकार के लिंग को देख करके, उनकी पूजा-अर्चा नहीं करता, उनके लिए आहारदान नहीं देता तो उसके लिए आचार्य कुन्दकुन्द अष्टपाहुड में कहते हैं-

सहजुप्पणं रूवं दट्ठुं जो मण्णए ण मच्छरिओ।
सो संजमपडिवण्णो, मिच्छाइट्ठी हवदि एसो॥ द.पा.24॥

कितनी गजब की बात कही है आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने - सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शन को एक दर्पण के सामने लाकर रख दिया है। "फेस इज दा इन्डेक्स आफ दा हार्ट"। हृदय की अनुक्रमणिका मुख-मुद्रा है। हृदय में क्या बात है, यह मुख के द्वारा समझ लेते है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि अभी भी तुम्हारी दृष्टि में बैर भाव है। अभी भी वह सेठ है। पर्यायबुद्धि है तेरी। तेरी दृष्टि में वीतरागता नहीं आ रही है। वीतरागता किसी की, अथवा घर की नहीं होती, न इसे चुराया जा सकता है और न किसी की बपौती है। नग्नत्व ही उसका साधन है। यह भगवान् महावीर या ऋषभनाथ भगवान् और भी जिनको पूजते हैं, उनका लिंग है। कुन्दकुन्द भगवान् ने कहा- यथाजातरूप भगवान् महावीर और इस मुनिराज में कोई अन्तर नहीं है, इसको देखकर जो व्यक्ति मात्सर्यादिक भावों के साथ वन्दना आदि नहीं करता है। वह मिथ्यादृष्टि है। यह ध्यान रखिये! यथाजातरूप होना चाहिए, क्योंकि वे ही जो छट्ठे-सातवें गुणस्थानवर्ती हैं, वे ही आपके घर तक आहार के लिए आ सकते हैं, अन्य नहीं। जिसके हृदय में सम्यग्दर्शन है वह जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिमा और जिनेन्द्र भगवान् को देखते ही सब पर्यायों को भूल जाता है। यह मेरा बैरी था, मित्र था, पिताजी थे, मेरे भाई थे या और कोई अन्य सम्बन्धी, अब कोई

सम्बन्ध नहीं, सब छूट गया। इस नग्नावस्था के साथ तो मात्र पूज्य-पूजक सम्बन्ध रह गया है। इसके उपरान्त भी अतीत की ओर दृष्टि चली जाती है, रागद्वेष हो जाते हैं, परिचर्या में नहीं लगता है तो कुन्दकुन्दस्वामी ने उसे मिथ्यादृष्टि कहा। आगे दूसरी गाथा में कहते हैं-

अमराण वंदियाणं रूवं दट्ठूण सीलसहियाणं।
जे गारवं करंति य सम्मत्तविवज्जिया होंति।।द.पा.25।।

अमरों के द्वारा जो वन्दित है, उस पद को तथा शील सहित व्यक्ति को देखकर भी जो जीव गर्व करता है, उसका तिरस्कार करता है तो वह सम्यग्दर्शन से कोशों दूर है। ऐसा नहीं है कि एक बार सम्यग्दर्शन मिल गया फिर पेटी में बन्द कर, अलीगढ़ का ताला लगाकर ट्रेजरी में बंद कर दें। कहीं हिल न जाए। आचार्य कहते हैं कि ऐसा नहीं है, अन्तर्मुहूर्त में ही कई बार उलट-पलट हो सकता है। भीतर के भीतर जैसे माल "पास" हो सकता है। ताला ऊपर रह जाये और माल भीतर से "सप्लाई" हो जाये। ऐसे ही भीतर परिणामों में उथल-पुथल होता रहता हैं। यह सब पुण्य और पाप की बात है। इसी अष्टपाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द देव ने एक जगह लिखा- "बाहुबली, सर्वप्रथम द्रव्यलिंगी की कोटि में हैं'' बड़ी अद्भुत बात है। सर्वार्थसिद्धि से तो आये हैं और मुनि भी बने, फिर भी द्रव्यलिंगी की कोटि में उनको रखा। यह मात्र दृष्टि की बात है। बात ऐसी है कि वर्द्धमान चारित्र वाला छट्ठे-सातवें गुणस्थान में तो परिवर्तन कर सकता है, लेकिन जिसका वर्द्धमान चारित्र नहीं है वह व्यक्ति नीचे गिरकर छट्ठे से पांचवे में भी आ सकता है, चौथे में आ सकता है और क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं हैं तो प्रथमगुणस्थान तक आ सकता है। ऐसे भी भंग आगम में बनाये गये हैं। उन्होंने कहा- एक व्यक्ति क्षायिक सम्यग्दर्शन के साथ मुनिपद को अपनाता है, सातवें गुणस्थान को छू लेता है और अन्तर्मुहूर्त में छट्ठे में आ जाता है। फिर चतुर्थ गुणस्थान में आकर आठवर्ष और कुछ अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि वर्ष व्यतीत कर सकता है।

धवला पढ़िये! उसका अध्ययन करिये तब ज्ञान होगा। क्षायिक सम्यग्दृष्टि तो है पर असंयमी हो गया। अब कैसे आहार दान दें? परिचर्या कैसे करें? हो सकता है देने वाला पंचमगुणस्थानवर्ती हो और लेने वाले मुनि महाराज चौथे गुणस्थानवर्ती। यहाँ ध्यान रखिये, मुनिलिंग की पूजा की जाती है। भीतर रत्नत्रय हैं या नहीं, वह आपकी आंखों का विषय नहीं। अब हम पूछते हैं

कि क्षायिक सम्यग्दर्शन होते हुए भी उसे ऊपर क्यों नहीं उठाया? जबकि अभी भी दिगम्बरावस्था है। जब सम्यग्दर्शन है तो चारित्र भी सम्यक् होना चाहिए। छट्ठे-सातवें गुणस्थान को छूना चाहिए, पर नहीं होता है। इसका कारण, भिन्न-भिन्न शक्तियों की सीमायें, लक्षणों और गुणों की सीमायें ही हैं। भिन्न-भिन्न प्रयोजनों के कारण भी आगे नहीं बढ़ पाता। उसकी विशुद्धि इतनी घट गई कि ऊपर से तो मुनिलिंग की चर्या का अनुपालन करता हुआ पूर्वकोटि वर्ष तक सम्यग्दृष्टि बना रह सकता है। ऐसा भी सम्भव है कि जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं है वह दीक्षा लेते समय छट्ठे-सातवें गुणस्थान में था और अन्तर्मुहूर्त में ही मिथ्यात्व गुणस्थान में आ गया। अब क्या करें? क्या आप आहार देना बंद कर देंगे? उसे कपड़े पहनना चाहिये क्या? "अरे! यदि कपड़ा नहीं पहनता तो धोखाधड़ी करने की बात ही नहीं। सम्यग्दर्शन कोई ऐसी वस्तु नहीं कि बांध के रख लिया जाये। क्षायिक सम्यग्दर्शन होते हुए भी छट्ठे-सातवें गुणस्थान से नीचे उतरना पड़े। हां! यह तो अवश्य है कि चारित्र बांधा जा सकता है किन्तु भीतरी परिणामस्वरूप चारित्र को नहीं बांधा जा सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि कर्म की भी अपनी शक्ति है। उसकी शक्ति के सामने किसी का पुरुषार्थ कुछ नहीं कर सकता।

द्रव्यलिंगी कहने से मिथ्यादृष्टि को ही नहीं लेना चाहिए। कारण, बाहुबली मिथ्यादृष्टि होने वाले नहीं। सर्वार्थसिद्धि से क्षायिक सम्यग्दर्शन के साथ आये थे। इसी प्रकार की कई बातें राम के जीवन में आती हैं। भूमिका के अनुसार जब-जब कर्मों का उदय आता है, तब-तब उसकी चपेट से आत्मा के कैसे-कैसे परिणाम होते हैं। उसे कहा है- कोउ-कोउ समै आत्माने कर्म दावे छे, कोउ-कोउ समै आत्मा कर्मने दावे छे। अर्थात् कभी-कभी आत्मा कर्मों को दबाता है और कभी-कभी कर्म, आत्मा को दबांते हैं। यह कस्समकस्सा चलता रहता है। अन्त में जीत आत्मा की ही होगी। यह चलना भी चाहिए। मानलो, मैदान में दो कुश्ती खेलने वाले आ गये। एक मिनिट में ही एक गिर गया (चित्त हो गया) तो लोग कहते हैं कि मजा नहीं आया। कुछ दांव-पेंच होना चाहिए। जब सारा का सारा बदन लाल हो जाए, २-३ बार गिर-उठकर एक बार चित्त करें तो- वाह.. वाह! कमाल कर दिया, कहेंगे। क्योंकि हमें आनंद तभी आता है। उसी प्रकार जब जाना ही है, इस लोक से तो करामात को दिखाने से नहीं चूकना चाहिए। कर्मों ने अनन्तकाल से इसको दबाये रखा, अब एक बार ऐसी सन्धि आयी है कर्मों को दबाने की। एक बार में

ही न दबा दें बल्कि दबाते रहें-दबाते रहें, जब बिल्कुल लथपथ हो जाये, कहे- मैं भाग जाऊँगा, चला जाऊँगा- ऐसा कर दो अपने आत्मा के बल से। जब सम्पूर्ण बल खुलकर सामने आयेगा तो सभी कर्म भागते फिरेंगे। तभी वीतरागता प्राप्त होगी।

वीतराग और अराग में क्या अंतर है? यह जो पृष्ठ, कागज का है यह अरागी है। और भी जितनी भी वस्तुएं देखने में आ रही हैं वे सभी अरागी हैं, जड़ हैं, किन्तु चेतना वाले जीव ही कुछ रागी और कुछ वीतराग होते हैं। जिसके पास राग था, उसका अभाव करने से वीतरागता आती है। हमें अरागी नहीं, वीतरागी बनना है।

आप लोग भी तो वीतराग हैं लेकिन कैसे? "आत्मानं प्रति रागो वस्य न वर्तते इति वीतराग:" आत्मा के प्रति जिसका राग नहीं है वह भी वीतराग है और जिसकी आत्मा में राग नहीं वह भी वीतराग है। आपको आत्मा के प्रति राग न होते हुए भी आप सरागी माने जाते हैं। क्योंकि भिन्न-भिन्न जो अन्य वस्तुएं हैं उन सबके प्रति आपको राग है। **आप कहते तो हैं- यह भिन्न हैं, वह भिन्न हैं, लेकिन थोड़ी भी प्रतिकूल दशा आ जाये तो खेद-खिन्न हैं। यह 'पर' है, यह 'पर' है- फिर भी उसी में तत्पर हैं। यह सब नाटक क्या है?**

जब नये दीक्षित श्रमण ने महाराज के चरणों में नमन किया तो महाराज ने कहा- क्यों क्या बात है, निकल गया पूरा का पूरा कांटा? महाराज! आपने तो अच्छी संधि पकड़ी, हृदय की बात जान ली। भैय्या! हम हृदय की बात जानते हैं, बाद की बात नहीं। किसी और के पास नहीं पहुँचना था, क्योंकि सबके प्रति तुम्हारे क्षमा भाव हैं। जहाँ बैर नहीं, क्षमा भाव हैं। अब तुमने दीक्षा ले ली, लेकिन जिसके साथ तुम्हारा बैर-भाव था, वह निकला कि नहीं? भीतर रहना नहीं चाहिए। उसको तुम्हीं टटोलो, और कहाँ पर? वहीं पर जाकर। उसमें अवश्य ही परिवर्तन होना चाहिए उस श्रावक के, इस लिंग (जिनलिंग) को देखने मात्र से निष्ठा पैदा हो गयी कि इस प्रकार कर बैर रखने वाले भी मेरे आंगन तक आ सकते हैं। मान का पूरा का पूरा हनन। जो राजा था, दूसरों पर सत्ता रखता था, सब कुछ करता था, वही आज यूं हाथ पसारकर आया है। यह भीतर की अग्नि-परीक्षा है। "जो दिया जाय वह लेना" बहुत ही कठिन व्रत है। उसमें अपनी मांग नहीं होना, बहुत कठिन है।

एक बार सागर में वाचना चल रही थी, तब आचार्य गुणभद्र का संदर्भ देते हुए कहा था कि श्रावक का पद कभी भी बड़ा नहीं होता, मात्र दान के अलावा। जिस समय उसके सामने तीन लोक के नाथ भी हाथ करते हैं, उस समय श्रावक को अपूर्व आनंद होता है और उसी आनंद के साथ अपना हाथ यूं करता है (दान देता है) तब हमने कहा- बात तो बिल्कुल ठीक है, परंतु हाथ कांपते किसके हैं? देने वालों के ही हाथ कांपते हैं, लेने वालों के नहीं। क्यों कांपते हैं? क्योंकि देने वाला दे तो रहा है परन्तु क्या पता, लेते भी हैं या नहीं, इसीलिए कांपते हैं। लेकिन महाराज निर्भीकता के साथ लेते हैं।

बंधुओं! राजा हो या महाराजा, जब तक राजकीय मान सम्मान है तब तक तीन लोक का नाथ नहीं बन सकता। चाहे कितनी भी कठिन तपस्या क्यों न कर लें। इसीलिए ऋषभनाथ ने दीक्षा ली। इसका अर्थ यही है कि उनके पास भीतर बैठी हुई, क्रोध, मान, माया, लोभ भले ही अनन्तानुबंधी न हो, पर शेष सभी कषाय तो विद्यमान होगी। इनका जब तक क्षय नही होगा, तब तक उदयावली से उदय में आकर इनका कार्य देखा जा सकता है। वर्धमानचारित्र वालों को भी हो सकता है परंतु वह संज्वलन होगा। अत: उसको भी जीतने के लिए बार-बार प्रयास करना, और जो कर रहे हैं, वे धन्य हैं। समयसारकलश में एक स्थान पर लिखा है-

बहती रहती कषाय नाली, शान्ति-सुधा भी झरती है,
भव पीड़ा भी, वहीं प्यारकर मुक्ति-रमा मन हरती हैं।
तीन लोक भी आलोकित है आतिशय चिन्मय लीला है,
अद्‌भुत से अद्‌भुततम महिमा आतम की जय शीला है।

वही पर कषाय नाली है, वहीं अमृत का झरना। वहीं-तीन लोक, वहीं मुक्तिरमा। वहीं पर तीनों लोकों को अवलोकित करने वाला अद्‌भुत-दिव्य-ज्ञान, लेकिन यह अतिशय लीला चेतना की ही है। धन्य हैं वे मुनिराज और उनकी चेतना, जो दीक्षा लेने के उपरान्त कषाय रहते हुए भी, कषाय नहीं करते हैं। कषाय चले जाने के बाद हमने कषाय जीत ली, ऐसा नहीं। जैसे- रणांगन में शत्रु के सामने कूदना ही कार्यकारी है। जब बैरी भाग जाए, उस समय कूदें तो क्या मतलब? शत्रु के सामने हाथ में तलवार हो और ढाल तथा छाती तान करके रणांगन में कूद कर किये गये प्रहार से बचकर, संधि पाकर अपनी तलवार चलाने से काम होता है। **उसी प्रकार ज्ञान और वैराग्य रूपी ढाल को अपने हाथ में लेकर, ज्ञान की तलवार चलाने से अनन्तकालीन कर्म की फौज जो कि भीतर बैठी है, छिन्न-भिन्न हो जाती है।** बस

अन्तर्मुहूर्त का समय लगता है। हमें जितना भी पुरुषार्थ करना है वह मात्र मोह को जीतने के लिए ही करना है। मोह को जीतने पर ही विजय मानी जायेगी अन्यथा कोई मतलब नहीं। कुछ भी सिद्ध होने वाला नहीं।

उस श्रावक को भी ऐसा ज्ञान हो गया कि भगवान्! इनके साथ जो बैर था, जो गांठ पड़ गयी थी वह कभी खुलेगी, यह संभव नहीं लगता था। कम से कम इस भव में तो कतई संभव नहीं लगता था। उस पर्याय का प्रध्वंसाभाव हो गया जिससे कि हमारी गांठ बंधी थी। अब मुनिलिंग आ गया, मुनिलिंग प्राप्त होते ही मेरे-भीतर किसी भी प्रकार का राग-द्वेष भाव नहीं आये। कारण कि वे वीतराग होकर आये थे रागी-द्वेषी होकर नहीं। यदि हमारे सामने कोई वीतरागता के साथ आते हैं तो हमें भी वीतराग भाव की उपलब्धि होगी और यदि मान दिखाते हैं तो हमारे भीतर ही मान की उदीरणा हो जाती है। सामने वाला व्यक्ति मान नहीं दिखाता तो हमारा भी मान उपशान्त हो जाए। जैसे- सिंह देखता है कि सामने वाला व्यक्ति मेरी ओर किस दृष्टि से देख रहा है, यदि लाल कटाक्षों से देखता है तो सिंह भी इसी प्रकार से कर लेता है। यदि वह शान्तरूप से चलता है तो सिंह भी शान्त मुद्रा से चला जाता है।

एक बार की बात। दो संत जंगल से चले जा रहे हैं, उधर से एक सिंह भी आ गया। सिंह को देखकर दोनों को थोड़ा-सा क्षोभ हो गया। अब क्या होगा, क्या पता? आजू-बाजू खिसकने के लिए कोई स्थान नहीं था। अब क्या करें? अब तो वह जैसा आ रहा है, वैसे ही हम चलें। रुकने से क्या मतलब? जो करना हो कर लेगा। इसलिए चलने में कोई बाधा नहीं। बस, उस तरफ नहीं देखना है। ईर्यापथ से चलना है। नीचे देखते हुए दोनों चले गये। बीच में से वह भी क्रास कर चला गया। सिंह इधर चला गया और वे उधर कुछ दूर जाकर इन लोगों ने मुड़कर देखा तो उसने भी देखा कि कहीं कोई प्रहार तो नहीं। दोनों शान्त चले गये और सिंह भी चला गया।

बंधुओ! कषाय-भाव की दूसरों को देखकर भी उदीरणा होती है। इसलिए बहुत सम्हाल कर चलने की बात है। कषायवान् के सामने जाने से कषाय की उदीरणा बहुत जल्दी हो जाया करती है। जिस प्रकार अग्नि को ईंधन के द्वारा बल मिल जाता है, उसी प्रकार कषायवान् व्यक्ति के सामने कोई कषाय करता है तो उसको बहुत जल्दी कषाय आती है।

एक छोटा-सा लड़का मां की गोद में बैठा है। मां दूध पिलाती-पिलाती आंखें लाल कर ले तो वह दूध पीना छोड़कर देखने लग जाता है कि क्या मामला है? गड़बड़-सा लगता है, तो मुंह का भी दूध वहीं छोड़ देगा। ज्यादा विशेष हो गया तो वह वहाँ से खिसकने लगेगा। लेकिन ज्यों ही चुटकीं बजाकर प्यार दिखाया तो फिर पीने लगेगा। इसका मतलब यही हुआ कि दूसरों की कषाय समाप्त करना चाहते हो तो हमें भी उपशान्त होते चले जाना चाहिए।

अतृणे पतिता वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति

जहाँ पर तृण नहीं। घास-फूस नहीं है, वहाँ पर धधकती एक अग्नि की लकड़ी भी रख दो तो वह भी पांच मिनिट में समाप्त हो जाती है। ईंधन का अभाव होते ही शान्त हो जाएगी। इसी तरह हमारे पास कषाय है, वह शान्त होते ही अपने आप शान्ति आ जाएगी। जब तक ईंधन का सहयोग मिलेगा, ईंधन पटकते रहेंगे वह बढ़ती जायेगी। **उपशम भाव ही हमारे लिए अजेय और अमोघ अस्त्र है। इस अमोघ अस्त्र के द्वारा दुनिया को नहीं, अपनी आत्मा को जीतकर चलना है।**

जैसे आदिनाथ ने आज दीक्षा अंगीकार कर ली। ऐसे श्रमणत्व को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ। ऐसा श्रमणत्व हम लोगों को भी मिले, ऐसी भावना करनी चाहिए। अतीत में कितनी भी कषाय हो गई हो। उसकी याद नहीं करनी चाहिए। अनागत की "प्लानिंग" भी नहीं करना चाहिए। यह सब पर्याय बुद्धि है। आप तो प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव को घटाकर देख लीजिए, सारा माहौल शान्त हो जायेगा।

एक वीरत्व की बात याद आ गई, वह और आपके सामने रख देता हूँ ताकि आप भी उसका उपयोग कर सके-

कौन कहता है कि आसमां में सुराख नहीं हो सकता।
एक पत्थर तो दिल से उछालकर देखो यारों॥

याद रखिये! आत्मा के पास अनन्तशक्ति है। इस शक्ति का उपयोग कषायों पर प्रहार करने के लिए कीजिए। हमारी यह शक्ति अब दबी नहीं रहनी चाहिए, सोई नहीं रहनी चाहिए, नहीं तो चोरों का साम्राज्य हो जायेगा। क्या आप अपनी सम्पदा को चोरों के हाथ में देना चाहेंगे? नहीं ना। इसलिए दहाड़ मारकर उठो। जैसे सिंह कि सामने कोई नहीं आता। वैसे ही उठो। सिंह वृत्ति को अपनाओ। **चूहों जैसे बनकर हजार वर्ष जीने की अपेक्षा**

सिंह जैसा बनकर एक दिन जीना श्रेष्ठ हैं। मुनि महाराजों की वृत्ति ही सिंह-वृत्ति कहलाती है। वह सिंह जैसे क्रूर तो नहीं होते किंतु सिंह जैसे निर्भीक जरूर होते हैं, निरीह होते हैं। पीठ-पीछे से धावा नहीं बोलते। छुपकर जीवन-यापन नहीं करते। उनका जीवन एकदम खुला रहता है। वनराजों के पास जाकर महाराज रहते हैं। भवनों में रहने वाले वनराजों के पास नहीं ठहर सकते।

आज भगवान् ने दीक्षा ली तो इन्द्र चाकर बनना चाहता था लेकिन उन्होंने स्वीकार नहीं किया। उसे कह दिया- तुम पालकी भी नहीं उठा सकते हो। पहले मनुष्य उठा लें, फिर कोई नहीं। ना ये, ना तुम, मैं मात्र अकेला हूँ, था और रहूँगा। इस एकत्व के माध्यम से आज तक हजारों आत्माएँ अपना कल्याण कर गई, कर रही हैं, और आगामी काल में भी करेगी। अपूर्णता से अपने जीवन को पूर्णता को ओर ले जायेंगी। मैं उन ऋषभनाथ भगवान् को, जो आज मुनि बने हैं, यह पंक्ति बोलते हुए स्मरण में लाता हूं-

बल में बालक हूँ किस लायक, बोध कहाँ मुझमें स्वामी।
तव गुण-गण की स्तुति करने से, पूर्ण बनूं तुम-सा नामी।।
गिरि से गिरती सरिता पहले पतली-सी ही चलती है।
किन्तु अन्त में रूप बदलती सागर में जा ढलती है।।

७

आज चौथा दिन है। कल ऋषभकुमार ने दीक्षा अंगीकार कर ली है। इसके उपरान्त तप में लीन हैं, आज उन्हें केवल ज्ञान की उपलब्धि होने वाली है। इसके पूर्व उन्हें भूख लगे। यह सब कुछ इसलिए कह रहा हूँ कि तीर्थंकर की कोई भी चर्या "आर्टीफिशियल" नहीं हुआ करती, दिखावटी नहीं हुआ करती, प्रदर्शन के लिए भी नहीं हुआ करती। दुनिया को उपदेश देने के लिए भी नहीं हुआ करती, क्योंकि छद्मस्थ अवस्था में वे उपदेश नहीं दिया करते हैं। दिखावटी कोई नाटक नहीं किया करते हैं। ऋषभनाथ, जो मुनिराज बने हैं वे, छठवें-सातवें गुणस्थान में घूम रहे हैं, क्योंकि उनका उपयोग अभी भी श्रेणी के लायक नहीं है। अर्थ यह हुआ कि उनकी चंचलता अभी नहीं मिटी और जब चंचलता नहीं मिटी तो वह क्रिया, केवल दिखाने के लिए नहीं है।

कल चर्चा चल रही थी कि, महाराज! तीर्थंकरों को पिच्छी-कमण्डलु का विधान तो नहीं है और कल तो यहाँ दिया गया? हां! बात तो ठीक है। संसारी प्राणी को मुनिचर्या की सही-सही पहचान हो, ज्ञान हो, इसलिए ये दिया गया है। जो तीर्थंकर दीक्षित होते हैं, वे पिच्छी और कमण्डलु नहीं लेते, क्योंकि ज्यों ही वे दीक्षित होते हैं, त्यों ही उन्हें सारी ऋद्धियां प्राप्त हो जाती हैं, एक मात्र केवलज्ञान को छोड़कर। उनकी मन, वचन, काय की चेष्टा के द्वारा त्रसों का और स्थावरों का घात नहीं हुआ करता, इस प्रकार की विशुद्धि उनकी चर्या में आ जाती है और वे वर्द्धमान चारित्र वाले होते हैं, इसलिए इसके बारे में कुछ ज्यादा कहने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु जब वे आहार के लिए उठते हैं, त्यों ही उपकरण का विधान उपस्थित हो जाता है।

प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्रस्तुत किया है कि, अरे! तूने तो सब कुछ छोड़ने का संकल्प लिया था। छोड़ने का संकल्प लेकर, अब ग्रहण करने के लिए जा रहा है। गृहस्थों के सामने हाथ यूं करेगा (फैलायेगा), बड़ी अदभुत बात है। चाहे तीर्थंकर हों, चाहे चक्रवर्ती हों, चाहे कामदेव हों, कोई भी हों। कर्मों के सामने सबको घुटने टेकने पड़ेंगे। जब छोड़ने का संकल्प लेकर दीक्षा ग्रहण की थी, तो इस समय ग्रहण करने क्यों जा रहे हैं । आचार्य कहते हैं- उत्सर्गमार्ग और अपवादमार्ग की सूचना आगम में है। जो व्यक्ति अपवादमार्ग को भूल जाता है, वह भी फेल हो जाता है। दोनों में ही साम्य हो। वेतन देना अनिवार्य है। लेकिन यहाँ पर वेतन के साथ "कण्डीशन" भी है कुछ। वेतन के साथ शर्त हुआ करती हैं, उनको जो स्वीकारता है उसे कहते हैं साधु। साधु शर्तों के साथ ही अपनी आत्मा की साधना करता है। आगम के अनुकूल करता है। भगवान् की चर्या भी आगम के अनुकूल होती है, विपरीत नहीं हुआ करती। २८ मूल गुणों के धारक होते हैं वे। इसलिए एक बार ही आहार के लिए निकलने का नियम होता है, यह बात अलग है कि उनकी क्षमता ६ माह तक की रही, किन्तु ६ माह के उपरान्त वह भी उठ गये।

इस चर्या में जब चार हजार मुनि महाराज फेल हो गये तभी से प्रारम्भ हो गया है ३६३ मतों का प्रचलन। दिगम्बर होने के उपरान्त जो शोधन करके आहार नहीं करता, वह अन्य समिति वाला है। सम्यक समिति वाला नहीं माना जाएगा। वे मुनिराज श्रावक के घर आकर आहार कब ग्रहण करते हैं जबकि श्रावक की सारी की सारी क्रिया देख लेते हैं। नवधा-भक्ति देख लेते

हैं। श्रावक यदि नवधा-भक्ति करता है तो ही आहार लेते हैं, नहीं तो नहीं लेते। तो क्या हो गयाथा? कल किसी ने कहा था कि उन्हें अन्तरायकर्म का उदय था। बिलकुल ठीक है किन्तु लड्डू लाकर के दिखा रहे थे, क्यों नहीं लिए उन्होंने? तब जवाब मिलता है, श्रावकों की गलती थी, मुनि महाराज की कोई गलती नहीं थी। श्रावकों की क्या गलती थी? तो उन्होंने कहा कि नवधा-भक्ति नहीं की थी। जब तक नवधा-भक्ति नहीं होगी, तब तक लाये गए आहार को वे नहीं लेंगे। बहुत कठिन है, यह चर्या। एक माह, दो माह, तीन माह, चार माह, छह माह तक हो गये उपवास किये। उसके बाद ६ माह और अन्तराय चला। फिर भी उस क्रिया, चर्या की इति नहीं की। इस चर्या से डिगे नहीं वे। यह मात्र जड़ की क्रिया नहीं है, किन्तु यह भीतर में छट्ठे-सातवें गुणस्थान में झूलता हुआ जो ज्ञानवान चेतन भगवान आत्मा है, उसी की क्रिया है।

एषणा के कारण ही संसारमें विप्लव मचा हुआ है। एक दिन के लिए भी भूख सताने लग जाए तो "मरता क्या न करता" "भूखा क्या-क्या करता" ये सब कहावतें चरितार्थ होने लगती हैं। लेकिन कितने ही कठोर उपसर्ग-परीषह क्यों न हों तो भी मुनि महाराज अपनी चर्या से तीन काल में भी डिगते नहीं। टस से मस नहीं होते। वे कभी मांगते नहीं हैं, क्योंकि यही एक मुद्रा ऐसी रह गई है संसार में, जिसके पीछे रोटी है और बाकी जितने भी हैं, वे सब रोटी के पीछे हैं। मात्र साहित्य से काम नहीं चलने वाला इस जगह। यदि हमारे पास क्रिया है, दिगम्बर मुद्रा है तो साक्षात् महावीर भगवान् को दिखा सकते हैं। युग के आदि में जो ऋषभनाथ हुए थे उनकी चर्या का पालन करने वाले आज भी हैं। यह हमारा सौभाग्य है।

यह संसारी प्राणी चार संज्ञाओं में ग्रसा हुआ है। आहार की संज्ञा से कोई निर्वृत्त नहीं है छट्ठे गुणस्थान तक, अर्थात् यह संज्ञा छठवें गुणस्थान तक होती है। आहार संज्ञा का मतलब है आहार की इच्छा होना। आप लोगों को भी आहार की इच्छा होती है और मुनि महाराज को भी आहार की इच्छा है। किन्तु आप लोगों को आहार की इच्छा के साथ-साथ रस की भी इच्छा होती है। रस की इच्छा जिह्वा की भूख मानी जाती है और मुनिराज को मात्र पेट की भूख होती है। वह भूख वस्तुतः भूख नहीं है। रस की भूख, ऐसी भूख है कि भूत लगा देती है। संसारी प्राणी इसी भूत के पीछे ही सारा का सारा श्रृंगार करता है। खाते तो आप भी हैं, उतना ही पेट है और मुनि का पेट भी

उतना ही है। फिर भी लगता है कि आपके पेट में कहीं गुंजाइश अधिक है। जिससे अनथऊ (सांय का भोजन) की चिन्ता हुआ करती है आपको। मुनिराज को इसकी चिन्ता नहीं हुआ करती। उन्हें रात-दिन में एक बार ही चेतन को वेतन देने का काम है। इसीलिए ऋषभनाथ आपके घर आयेंगे।

आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने पूछा था समयसार पढ़ाते समय, बताओ- तीर्थंकर की प्रमत्त अवस्था कैसे पकड़ोगे? समयसार की व्याख्या पढ़ाने के उपरान्त पूछा था, क्योंकि उन्हें यह ज्ञात करना था कि ये किस प्रकार अपनी बुद्धि से अर्थ निकाल पाता है। मैंने कहा- महाराज जी! आपने इस प्रकार पढ़ाया तो है ही नहीं? इसीलिए तो पूछा रहा हूँ मैं, कि कैसे पकड़ोगे? आधा-एक मिनिट सोचता रहा फिर बाद में मैंने कहा कि महाराज! जब तीर्थंकर चर्या के लिये उठते हैं, उस समय बिना इच्छा के नहीं उठते। आहार लेते समय मागेंगे, वह भी बिना इच्छा के नहीं। तभी एक-एक ग्रास पर हम उनकी प्रमाद चर्या को पकड़ सकते हैं। जिस समय वे ग्रास लेते हैं उस समय छट्ठा गुणस्थान माना जायेगा, जो कि प्रमाद की अवस्था है। कारण कि लेने की इच्छा है। ध्यान रखना, वे आहार को ऐसे ही नहीं ले लेते, हम लोगों जैसे, किन्तु यूं यूं (अंजुलि बांधकर शोधन का इशारा) शोधन करते हैं। शोधन करने का नाम है, अप्रमत्त अवस्था। वे यूं-यूं ही क्या अंगुली से? यह जड़ की क्रिया है क्या? नहीं। ऐसा कभी मत सोचना कि यह जड़ की क्रिया है किन्तु यह सप्तम गुणस्थान की क्रिया है। इसको आगम में एषणा समिति बोलते हैं। वह अप्रमत्त दशा का द्योतक है। ग्रास को लेने के लिए हाथ को यूं नीचे फैलाना, यह तो आहार संज्ञा का प्रतीक है, उस समय छट्ठा गुणस्थान है, प्रमत्त है। किन्तु शोधन के लिए यूं-यूं अंगुली का चलाना, यह सप्तम गुणस्थान है। पुनः हाथ फैलाना, छट्ठा और शोधन सातवां। इस प्रकार होती है उनकी क्रिया। इतना विशेष ध्यान रखना कि आहार लेते समय रस का स्वाद, रस में चटक-मटक नहीं करते। यह बहुत सुन्दर है, बढ़िया है। ऐसा कह देंगे या मन में ऐसा भाव आ जायेगा तो गुणस्थान से नीचे आ जाएंगे। लेकिन उन्हें बढ़िया-घटिया से कोई मतलब नहीं रहता। उनके अन्दर तो **"अरसमरूवमगंध"** वाली गाथा चलती रहती है।

आहार देते समय श्रावक लोग कह देते हैं कि महाराज! जल्दी-जल्दी ले-लो। हम शोधन करके ही तो दे रहे हैं, लेकिन नहीं। मैं तो देखकर ही लूंगा। क्योंकि आपकी एषणासमिति तो आपके लिए है, मेरी एषणासमिति मेरे

लिए है। तुम्हारी जो क्रिया होगी वह मेरी रक्षा करेगी। मेरे गुणस्थान की रक्षा करेगी। आगम की आज्ञा का उल्लंघन हम नहीं कर सकते। वह जड़ की क्रिया नहीं, अपितु जड़हीन अर्थात् ज्ञानवान् आत्मा की क्रिया है।

क्षुधा होती है- भूख बहुत जोरों से लगी है। तो देख लो। एक पूडी भी थोड़ी-सी देर से आती है तो कैसी गड़बड़ी हो जाती है भैय्या! या तो पहले भोजन पर नहीं बुलाते, बुलाना है तो पहले पूड़ी का प्रबन्ध तो कर लेते। दाल के बिना काम चल जाए लेकिन पूड़ी के बिना कैसे चले। कुछ तो मिल जाए थाली में। उसी के साथ खाकर, थाली खाली कर दें। होता यह है कि भूख की इतनी तीव्र वेदना होती है कि असह्य होती है। किन्तु मुनि महाराज कितनी ही भूख होने पर अपनी एषणा समिति को पालते हुए ही आगे का ग्रास लेते हैं। आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने तो कहा है- मुनि की परीक्षा समिति के माध्यम से ही होती है। वो जिस समय सोचेंगे, उस समय समिति चल रही है। बोलेंगे उस समय भाषा समिति चल रही है। जिस समय उठेंगे-बैठेंगे उस समय आदान-निक्षेपण समिति चल रही है। जब चलेंगे, ईर्यासमिति से चलेंगे। पूरी की पूरी समितियां चल रही हैं। किसी भी क्रिया में कमी नहीं है। इसका मतलब है या अर्थ है कि प्रत्येक क्रिया के साथ सावधानी चल रही है, यानि चौबीसों घण्टे (हमेशा) स्वाध्याय चल रहा है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों में भेद होने का मूल कारण यही है- एषणासमिति। अंजलि में डालते ही खा जाना, यह रागी का काम है। मांगना रागी का काम है। परन्तु महाराज का काम है, अंजलि में आते ही ठीक-ठीक शोधन करके खाना, रागी व्यक्तियों जैसे कभी भी नहीं खाना। शोधन करना बुद्धिमान् की क्रिया है। हमें इस बात का गौरव है, गौरव ही नहीं स्वाभिमान भी है कि कम से कम महावीर भगवान के वीतराग-विज्ञान का जो मूर्तरूप है, उसका पालन तो कर रहे हैं। इसमें गौरव होना भी सहज है। मात्र बातों के जमा खर्च से काम नहीं चल सकता किन्तु आगम की जो आज्ञा है उसका सेवन करना सर्वप्रथम आवश्यक है। जिसका पेट खाली है, वह व्यक्ति कभी भी पेट पर हाथ रखकर आनन्द का अनुभव नहीं कर सकेगा, क्योंकि वह आत्माराम को भूखा रखता है। इसीलिए मेरा कहना ये है! मेरा क्या कहना? आचार्यों का कहना है, अब आचार्यों का भी क्या कहना, दिव्यध्वनि खिरने वाली है मध्याह्न में, उसी दिव्यध्वनि का कहना है कि यदि तुम सुख का अनुभव करना चाहते हो तो, अपनी चर्या को ऐसी (सदाचारपूर्ण) बनाओ।

यद्वा-तद्वा चर्या बनाओगे तो नियम से मात खा जाओगे, भटक जाओगे। आज तक मार्ग से भटते रहे, कहीं रास्ता नहीं मिला, यही कारण है। कारण को सही-सही जानना आवश्यक है, क्योंकि कारण में ही विपर्यास हुआ करता है, कार्य में नहीं। पहले भी कहा था- मंजिल में और सुख में कोई विसंवाद नहीं हुआ करता, मात्र सुख को प्राप्त कराने वाले कारणों में विसंवाद होता है। हमारी बुद्धि, जहाँ पर भी चर्या में कठिनाइयां होती हैं, बन्धुओ! बैठे-बैठे नहीं। इन सभी कठिनाइयों का भी मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। उनकी चर्या के उपरान्त सभी समझ सके थे कि मुनिराज को इस प्रकार चर्या करना चाहिए, तथा श्रावकों को भी इसका ज्ञान हुआ।

ऋषभनाथ को १००० वर्ष तक केवलज्ञान नहीं हुआ, तब ६-६ महिने के उपरान्त वे उठे, हजारों बार उठे। अर्थात् हजारों बार उन्हें भूख लगी, आहार की इच्छा हुई। यह छट्ठे गुणस्थान की बात है। आहार की क्रिया, जबकि सातवें गुणस्थान तक चलती है, यह धवला, जयधवला और महाबन्ध के द्वारा ज्ञात होता है। अतः ज्ञानी को कोई रस सम्बन्धी, अन्न सम्बन्धी और कोई सामग्री सम्बन्धी परिग्रह नहीं रहता। जब मांगे हैं तो राग नहीं रहता क्या? रहता है। पर विषय सम्बन्धी नहीं रहता। फिर रहता भी है और नहीं भी रहता, यह क्या कह रहे आप? जैसा कहा है वैसा ही तो कहूंगा, मैं अपनी तरफ से थोड़े ही कह रहा हूँ। विषय-सम्बन्धी राग को तो अनन्तकाल तक के लिए छोड़ दिया है। उन्होंने। सामान्य जीवों जैसा ग्रहण करना उनका काम नहीं है। श्वेताम्बर कहते हैं-भगवान् बनने के उपरान्त भी, वे कवलाहार लिया करते हैं। तो आचार्यों को परिश्रम और करना पड़ा। उन्होंने कहा हमें बताओ, जब आहारसंज्ञा छट्ठे गुणस्थान तक ही रहती है तब तेरहवें गुणस्थान में कैसे आहार लेंगे? इसलिए आज भी इस क्रिया का अवलोकन आप लोगों को करते रहना चाहिए। मात्र चाहिए ही क्या, किन्तु बहुत आवश्यक है, जिससे समझ में आयेगा कि दिगम्बर परम्परा में किस प्रकार इसक्रिया को निर्दोष रखा कुन्दकुन्द भगवान् ने। तूफान चला था, तूफान, उस समय। जिसमें बड़े-बड़े पहाड़ भी उड़ रहे थे। लेकिन **"बुद्धिसिरेणुद्धरियो समप्पिो भव्वलोयस्स"। इन महान् आध्यात्मिक ग्रन्थ एवं मुनिचर्या को जीवित रखने का श्रेय, इस तूफान से बचाने का श्रेय, यदि किसी को है तो वह है आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी को। यह ध्यान रखना वे कुन्दकुन्दस्वामी केवल साहित्य लिखकर के इस मुनिमार्ग को जीवित नहीं रख पाये,**

किन्तु उन्होंने स्वयं इस चर्या को निभाया। और इसे उसी शुद्ध रूप में आज तक सुरक्षित पालन करने वाले अनेकानेक मुनिराज हुए, यह गौरव की बात है।

ऐसे मुनि महाराज ही चौबीसों घण्टे स्वाध्याय करने वाले माने जाते हैं क्योंकि षट् आवश्यकादि क्रियाओं से उनका हमेशा ही स्वाध्याय चलता रहता है। इसलिए मात्र किताबों से ही स्वाध्याय होता है, ऐसा नहीं है। जैसे कल हमने बताया था। किसी को लगा होगा कि महाराज जी ने तो स्वाध्याय का निषेध कर दिया, किन्तु यहाँ स्वाध्याय का निषेध नहीं किया गया, बल्कि इन क्रियाओं से स्वाध्याय हमारा ठीक-ठीक हो रहा है या नहीं, इसका परीक्षण होता रहता है। जो इन क्रियाओं का पालन नहीं करता, उस व्यक्ति का स्वाध्याय, स्वाध्याय नहीं माना जाएगा। समयसार में भगवान् कुन्दकुन्द ने कहा है–**"पाठो ण करेदि गुणं"।** तोता रटन्त पाठ करना गुणकारी नहीं है–कार्यकारी नहीं है।

"आलस्याभावः स्वाध्यायः" कहा गया है। इसलिए नियमसार जी में उन्होंने (कुन्दकुन्द स्वामी ने) यहाँ तक कह दिया कि आपने स्वाध्याय को भुला ही दिया। स्वाध्याय को आपने बताया ही नहीं आवश्यकों के अन्दर? तो उन्होंने उत्तर दिया–एक गाथा के द्वारा-स्वाध्याय तो प्रतिक्रमण एवं स्तुति आवश्यकों में गर्भित हो जाता है, यह नियमसार की गाथा है। कुन्दुकुन्दस्वामी की आम्नाय के अनुसार एवं मूलाचार आदि ग्रन्थों को लेकर, आचार्य प्रणीत जितने भी आचार-संहितापरक ग्रन्थ हैं उनमें कहीं भी 28 मूलगुणों में मुनियों के लिए स्वाध्याय आवश्यक नहीं बताया गया। यदि स्वाध्याय को आवश्यकों में गिनना शुरू कर देंगे तो 29 मूलगुण हो जायेंगे या फिर एक को अलग करके उसे रखना होगा। यह सब ठीक नहीं, अवर्णवाद कहलायेगा। व्युत्क्रम भी नहीं कर सकते, अतिक्रम भी नहीं कर सकते, अनाक्रम भी नहीं कर सकते हैं हम जिनवाणी में।

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं बिना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेदयाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥

इस प्रकार ज्ञान की परिभाषा समन्तभद्र स्वामी ने की है। न्यूनता से रहित होना चाहिए। विपरीतता से भी रहित होना चाहिए। ज्यादा नहीं होना चाहिए। अन्यथा भी नहीं होना चाहिए। "याथातथ्यं" जैसा कहा गया है वैसा ही होना चाहिए, अन्य नहीं।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव भी कहते हैं कि हमारे वे मुनिराज तीन काल में अपनी आत्मा को नहीं भूलते, क्योंकि यदि भूल करेंगे तो क्रियाओं में सावधानी नहीं आ सकेगी। ध्यान रखना, दिव्य-उपदेश होगा मध्याह्न में, क्या कहेंगे भगवान्, किसको कहेंगे और किस रूप में कहेंगे? सर्वप्रथम देशनालब्धि का अधिकारी कौन है? इसका उत्तर पुरुषार्थसिद्धयुपाय में, जिसका कि अभी मंगलाचरण किया गया है, दिया है। जिसके पास योग्यता नहीं है उसे देशना मत दो। उसको यदि देशना देंगे तो वह अनादर-अपमान करेगा। जिनवाणी का अनादर हो जाएगा। उन्होंने कहा है–जो आठ अनिष्टकारक हैं, दुर्द्धर हैं, जिनका छोड़ना बहुत कठिन है। "दुरितायतनानि" पाप की खान है। पाप की मूल खान कौन है-मद्य, मांस, मधु और सात प्रकार के व्यसन जो इसमें आते हैं। "जिनधर्मदेशनायाः भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः" इन पापों को, इन व्यसनों का त्याग जो नहीं है, उसको यदि तुम पवित्र जिनवाणी को दोगे तो सम्भव नहीं, उसका वह सही-सही उपयोग करेगा। इसे आप सामान्य चीजें साग-सब्जी जैसा नहीं समझें। ठीक नहीं लगा तो बदल लिया, दो और रख दो, या कम कर दो। ऊपर से और डाल दो। ऐसा नहीं हो सकता। यह जिनवाणी है, जिनवाणी? इसको जो सिर पर लेकर के उठायेगा वही इसका महत्व समझ सकेगा।

मैं स्वाध्याय का उस रूप में निषेध नहीं करता, किन्तु जिस व्यक्ति की भूमिका ही नहीं है स्वाध्याय करने की, उस व्यक्ति को यदि समयसार पढ़ने लिए दे देते हो तो, आप नियम से प्रायश्चित्त के भागी होगे। ऐसा मूलाचार में कहा है। मुनिराज को कहा गया है कि जो व्यक्ति जिनवाणी का आदर नहीं करता, उसको आप अपने प्रलोभन की वजह से यदि जिनवाणी सुना देते हैं तो आप जिनवाणी का अनादर कर रहे हैं। हां, जिस किसी को भगवान् के दर्शन नहीं कराना, किन्तु पूछताछ करके कराना। समझने के लिए यहाँ पर कोई जौहरी भी हो सकता है। जो जवाहरात का काम करता हो। उससे मैं पूछना चाहता हूँ, वह अपनी तस्तरी में मोती-मणिकाओं को रखकर दिखाता-फिरता है क्या? बहुत सारी दुकानें हैं जयपुर के जौहरी बाजार में। अन्य दुकानों पर जैसा सामान लटकाए रहते हैं वैसा जौहरी बाजार में जाने के उपरान्त किसी भी दुकान में नहीं देखा। मैं पूछना यह चाहता हूँ, क्या उन्होंने बेचने का प्रारम्भ नहीं किया? किया तो है, दुकान तो खोली है, फिर ग्राहक आकर पूछता है कि क्यों भैय्या! आपके पास में ये सामान है? हां!

है तो सही, लेकिन हमारे बड़े बाबाजी अभी बाहर गये हैं, आप यहाँ शान्त बैठिये। गए-वए कहीं नहीं थे। उस ग्राहक की तीव्र इच्छा की परीक्षा की जा रही थी। मात्र वह पूछने तो नहीं आया। खरीदने के लिए भी आया है या नहीं। आप लोग उस समय तकिए के ऊपर आरामतलबी के साथ बैठे रहते हैं। 3-4 बार निरीक्षण कर लेने के बाद, जब यह निश्चित हो जाता है कि ये असली ग्राहक हैं तब आप डिबिया में से डिबिया, डिबिया में से डिबिया और भी डिबिया में से डिबिया.....फिर पुड़िया में से पुड़िया, पुड़िया में से पुड़िया.....ऐसे निकालते चले जाने पर.....फिर लाल रंग का कवर, फिर नीले रंग का कवर, कभी और.....आते-आते अन्त में एक पुड़िया खुल ही जाती है, तो क्या कहते हैं उससे, हाथ नहीं लगाना उसको, यूं दूर से ही दिखा देते हैं। किसी को नहीं कहना।

यहाँ पर भी इसी प्रकार की मूल्यवान वस्तु है जिनवाणी! जो व्यक्ति आत्मा आदि को कुछ नहीं समझता। जानने की इच्छा भी नहीं कर रहा, उसको कभी भी नहीं देना। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने कहा है-आत्मा की बात तो सामने रखना, लेकिन इतना ख्याल रखना कि उसका मूल्य किसी प्रकार से कम न हो जाए, इस ढंग से रखना। जबरदस्ती नहीं करना किसी को। क्योंकि वह व्यक्ति उसका पालन नहीं कर सकता। किसी ने कहा कि "भूखे भजन न होई गोपाला, ले लो अपनी कण्ठीमाला।"-ऐसा कहेंगे वे आत्मा के बारे में जो उससे अपरिचित व्यक्ति है। उसे अपनी माला की आवश्यकता है, अन्य की नहीं।

स्वाध्याय का निषेध नहीं कर रहा हूँ, बल्कि भूमिका का विधान है यह। स्वाध्याय की क्रिया को करना जिसने प्रारम्भ कर दिया है, वह तो नियम से स्वाध्याय कर ही रहा है। मैं बार-बार कहा करता हूँ-जिस समय आप खिचड़ी बनाना चाहते हैं, उस समय भी आप स्वाध्याय कर रहे होते हैं। कैसे स्वाध्याय कर रहे हैं महाराज? मैं कहता हूँ कि आप बिल्कुल सही-सही ढंग से स्वाध्याय कर रहे हैं। क्योंकि उस समय आप अभक्ष्य से बचने के लिए एक-एक कणों का निरीक्षण कर रहे हैं। किसी ने कहा महाराज जी! समता रखनी चाहिए? किन्तु कब रखना चाहिए? प्रतिकूल वातावरण में, या अनुकूल वातावरण में? बन्धुओं! भक्ष्य-अभक्ष्य के बारे में कभी समता नहीं रखना चाहिए। ध्यान रक्खो, भक्ष्य-अभक्ष्य के बारे में यदि समता रखोगो तो नियम से पिट जाओगे और गुणस्थान से भी धड़ाम से नीचे गिरोगे। उस समय बुद्धि

का पूरा-पूरा प्रयोग करना चाहिए। हां, तो एक-एक का ज्ञान होना आवश्यक है वहाँ पर। हेय चीजें, अभक्ष्य चीजें, अनुपसेव्य चीजें जो कुछ भी मिली हुई हैं, उनको अलग-अलग निकालना ही तो क्रिया-कलाप का स्वाध्याय है। ऐसा करना भगवान की आज्ञा का अनुपालन भी है, यही सही स्वाध्याय है। जो प्रकाश रहते हुए भी इधर-उधर घूमता है जबकि अनथऊ का समय है, और जब प्रकाश नहीं रहता, उस समय जल्दी-जल्दी भोजन कर लेना चाहता है, और सोचता है, एक बार स्वाध्याय कर लेंगे तो सारा का सारा दोष ठीक हो जाएगा, लेकिन ध्यान रखो बन्धुओ! ऐसा नहीं होगा। वह क्रियाहीन स्वाध्याय फालतू माना जाएगा। उससे किसी प्रकार का लाभ नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी आस्था उसके प्रति नहीं है।

आप शंका कर सकते हैं-महाराज जी! छहढाला में आवश्यकों में स्वाध्याय को शामिल किया है? उसका उत्तर भी सुन लीजिए-छहढाला में जहाँ छटवीं ढाल में **"नित करें श्रुतिरति"** ये पाठ है वहाँ उसके स्थान पर संशोधन कर "प्रत्याख्यान" का प्रयोग कर लेना चाहिए। उन्हें, जिन्हें की हमेशा श्रुत की सुरक्षा की भावना रहती है। क्योंकि स्वयं छहढालाकार ने कहा है कि "सुधी सुधार पढ़ो सदा" इसलिए सुधारना लेखक के अनुकूल है। इसमें दूसरा हेतु यह भी है कि 28 मूलगुणों में प्रत्याख्यान नाम का एक मूलगुण ही समाप्त हो जाएगा। आप लोग तो मुनि नहीं है, अतः इस ओर दृष्टि नहीं गई शायद। पर मैं तो मुनि हूँ, 28 मूलगुणों को पालना है-जानना है, अतः मेरी दृष्टि इस ओर रहीं। मैंने इसे देखने के लिए कुन्दकुन्द देव का साहित्य टटोला और जितने भी आचार्य हुए हैं उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों को देखा। सब जगह प्रत्याख्यान ही मिला। किसी ने भी स्वाध्याय को 6 आवश्यकों में नहीं गिना। इसलिए स्वाध्याय स्वयं प्रतिक्रमण, स्तुति और वंदना में हो जाता है। जिसका समर्थन कुन्दकुन्ददेव ने अपने नियमसार में किया है। अतः दौलतराम जी के विनीत भावों का आदर करते हुए जैसा कि उन्होंने कहा-"सुधी सुधार पढ़ो सदा" प्रत्याख्यान पाठ कर लेना चाहिए।

एक बात का और ध्यान रखना होगा कि स्वाध्याय किस समय करें। हम स्वाध्याय करते हैं, किन्तु सामायिक के काल में नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार कुछ और समय आगम में कहे गये हैं, उनमें नहीं करना चाहिए। जो कि स्वाध्याय के विधान करते हैं उस समय में यदि करना ही चाहें तो "आलस्याभावः स्वाध्यायः।" स्वाध्याय का अर्थ लिखना-पढ़ना नहीं है। स्वाध्याय

का अर्थ वस्तुतः आलस्य के भावों का त्याग है, अर्थात् जिस व्यक्ति का उपयोग, चर्या हमेशा जागरूक रहती है, उसका सही स्वाध्याय माना जाता है।

प्रवचनसार के अन्दर उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग के प्रकरण में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने लिखा है कि मुनिराज के पास किसी प्रकार का ग्रन्थ भी नहीं रहता। क्योंकि शुद्धोपयोग ही मुनिराज की चर्या मानी जाती है। इससे उनके पास पिच्छी-कमण्डलु भी मात्र समिति के समय उपकरणभूत माने जाते हैं। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि स्वाध्याय करते-करते आज तक किसी को शुद्धोपयोग नहीं हुआ और ना ही केवलज्ञान, न हुआ है, न हो रहा है और न होगा। अतः शुद्धोपयोगी मुनियों के कोई भी उपकरण नहीं होता।

दूसरी बात मैं यह कहना चाहूँगा कि कुन्दकुन्ददेव के ग्रन्थों में रचयिता का नामोल्लेख करने का श्रेय किसको है? स्वाध्याय करने वालों से पूछते हैं हम? कुन्दकुन्दस्वामी के साहित्य का आलोडन करने वालों से पूछते हैं हम? कुन्दकुन्दस्वामी का यह समयसार है, प्रवचनसार है, पंचास्तिकाय है, इस प्रकार कहने वालों में किसका नम्बर है। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो द्वादशानुप्रेक्षा के अलावा कहीं लिखा ही नहीं कि यह मेरी कृति है। इसलिए समयसार किसका है? यह कहने का प्रथम श्रेय किसको? भरी सभा में इसलिए पूछ रहा हूँ कि स्वाध्याय करो, स्वाध्याय करो, ऐसा कहने से कुछ नहीं होने वाला। बन्धुओ! बहुत ही चिन्तन ओर मनन करने की बात है यह। जिसने कुन्दकुन्द स्वामी से पहचान करायी, उसका नाम लेओ, कौन है वह? बार-बार कहा जाता है कि अमृतचन्द जी ने टीका लिखकर बहुत महान् कार्य किया, बिल्कुल ठीक हैौ परन्तु उनकी टीका में कुन्दकुन्ददेव का नाम तक नहीं है। क्यों नहीं है? भगवान् जानें या कुन्दकुन्ददेव जाने या जाने स्वयं अमृतचन्द जी। कुन्दकुन्द स्वामी के नामोल्लेख का पूरा-पूरा श्रेय मिलता है-जयसेनाचार्य जी को। कुन्दकुन्दस्वामी का नाम अपने मुख से लेने वालों को, बार-बार कहना चाहिए कि धन्य हैं ये जयसेनाचार्य। यदि आज वे नहीं होते तो समयसार के कर्ता आचार्य कुन्दकुन्द हैं, इसे भी नहीं पहचान पाते। धन्य हैं वे टीकायें। ऐसी टीकायें लिखी हैं कि सामान्य व्यक्ति भी पढ़कर अर्थ निकाल सकता है। बन्धुओ! स्वाध्याय करना अलग वस्तु है ओर भीतरी रहस्य गहराई को समझना अलग वस्तु है। ये सभी बातें सभा में रखना आवश्यक नहीं समझ रहा हूँ। अतः यदि विद्धान् आये तो हम उनसे विचार-विमर्श

कर लें इसके बारे में। खुलकर विचार होना चाहिए। जो गुत्थियां है उन्हें समझना होगा। तभी समझूँगा कि वस्तुतः स्वाध्याय क्या वस्तु है।

प्रवचनसार में, समयसार में, पंचास्तिकाय में पांच-पांच, छह-छह बार कहा है-"कुन्दकुन्दाचार्यदेवैर्भणितं।" उन्होंने लिखा है, हम आचार्य कुन्दकुन्द के कृपापात्र हुए हैं। ऐसे आचार्य महाराज के हम ऋणी हैं, जिन्होंने हमें दिशाबोध दिया है। जिन्होंने भी दिशाबोध दिया, उनका नाम लेना अनिवार्य है, **जैसा कल पण्डित जी ने कहा था-सर्वप्रथम और कोई आचार्य का नाम नहीं आता, मात्र कुन्दकुन्ददेव के अलावा। कुन्दकुन्दाम्नाय-कुन्दकुन्दाम्नाय ऐसा कहना चाहिये। लेकिन यहाँ ध्यान रक्खो कि कुन्दकुन्ददेव का नाम सर्वप्रथम कौन लेता है उसे भी 10 बार याद करना चाहिये, अन्यथा हम अन्धकार में रह जायेंगे।** हमें जयसेनाचार्य को योग्य श्रेय देना होगा। अमृतचन्द जी का उपकार भी हम मानेंगे, लेकिन लोगों को जहाँ संदेह होता है, हो रहा है, उसका निवारण करना भी आवश्यक है। अमृतचन्द जी ने अपने नाम का उल्लेख प्रत्येक ग्रन्थ में टीकाओं के साथ-साथ किया है, अनेक विधियों से किया है, पर आचार्य कुन्दकुन्ददेव का नाम एक बार भी नहीं लिया। क्यों नहीं लेते हैं? भगवान् जानें और अमृतचन्द जी स्वयं जाने कि उनसे क्यों नहीं लिया गया कुन्दकुन्ददेव का नाम। आप लोग तो मात्र कुन्दकुन्द का नाम लेते हैं किन्तु मैं कुन्दकुन्द का नाम लेता हूँ और उनके बिना चलता तक नहीं। साथ ही, बीच-बीच में जयसेनाचार्य को भी, याद किये बिना चल नहीं सकता। कारण कि मुझे बिना टार्च (जयसेनाचार्य) के चला ही नहीं जाता। वह टार्च दिखाने वाले हैं, वस्तु को स्पष्ट करने वाले हैं आचार्य जयसेन स्वामी हैं।

मैं उनको, उनकी कृपा को, उनके उपकार को कैसे भूल सकता हूँ। आज न जयसेन हैं, न अमृतचन्द जी, न कुन्दकुन्द भगवान्, हम तो जिससे दिशा मिली उनका नाम लेंगे। कई लोग नाम नहीं लेना चाहते, क्यों नहीं लेना चाहते? इसके बारे में हमारे मन में शंका उठी है, अतः इस गूढ विषय की ओर स्वाध्याय करने वालों को देखना-सोचना चाहिये। यह बात हिन्दी में नहीं मिलेगी। आप प्रशस्ति पढ़िये, एक-एक पंक्ति पढ़िये। दिन-रात समयसार का स्वाध्याय करते हैं, फिर भी आज तक आप इस विषय से अनभिज्ञ रहे कि भगवान् कुन्दकुन्ददेव को प्रकाश में लाने वाले कौन हैं?

बहुत से कुन्दकुन्दाचार्य नाम से मुनिराज हुये हैं, लेकिन प्रकृत कुन्दकुन्दाचार्य जी ने जो चर्या निभायी तथा उस चर्या को सुरक्षित रखकर, हम सभी को देने का श्रेय प्राप्त किया। उनके लिए बड़े-बड़े आचार्यों ने कहा था कि वे महान् तीर्थकर होंगे। उनका गुणानुवाद करके हम धन्य हो गये।

अमृतचन्द जी समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय की वृत्तियों द्वारा रहस्यों को तो खोलना चाहते हैं, पर कुन्दकुन्दचार्य का नाम लिखना क्यों नहीं चाहते, यह बात समझ में नही आती। बड़े-बड़े व्याख्याकार यदि उनका नाम नहीं लेंगे तो हमारे लेने का क्या महत्व होगा? वे (अमृतचन्दजी) उन ग्रन्थों पर टीका करने वालों में आदि टीकाकार हैं, फिर नाम क्यों नही लेना चाहते। कुन्दकुन्ददेव के साहित्य का स्वाध्याय करने, प्रचारित करने वालों को तो कम से कम सोचना अवश्य चाहिए कि टीकाकार मूलकर्ता का नाम क्यों नहीं ले रहे हैं, विषय बहुत गंभीर एवं चिन्तनीय है।

आगे मैं यह कहना चाहता हूँ कि वही पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कह रहे हैं कि जब तक सप्तव्यसनों का त्याग नहीं होता, तब तक स्वाध्याय करने की योग्यता किसी भी व्यक्ति के पास नहीं आती। वैसे सप्त व्यसन राष्ट्र की उन्नति के लिए भी हानिकारक है और आत्मोन्नति के लिए भी। इस तरह जब देशनालब्धि की पात्रता के लिए सप्तव्यसनों के त्याग का विधान किया गया है, तब स्वाध्याय करने के पहले इतना तो नियम दिला देना/ले लेना चाहिए, बाद में स्वाध्याय आरम्भ करें। इसे मैं क्रमबद्ध स्वाध्याय कहता हूँ। अन्यथा आप क्रमबद्ध पर्याय की चर्चा तो करते रहेंगे, जिससे कि कुछ भी लाभ होगा नहीं तब तक, जबकि स्वाध्याय को कम से कम क्रमबद्ध नहीं करते।

एक आन्दोलन चला था, ब्रिटिश गवर्नमेंट को भारत से निकालने के लिए। कैसे निकाला जाए? तो उनकी जितनी भी चीजें हैं, परम्परायें हैं, उन सबको समाप्त कर देना आवश्यक होगा। इसी क्रम में शिक्षाप्रणाली को लेकर विरोध चला। गांधीजी ने शिक्षाप्रणाली को लेकर आन्दोलन चलाया। उस समय कई विद्यार्थी उनके पास आकर कहने लगे–भविष्य के साथ अहित कर रहे हैं। बेटा! क्या बात हो गई, बताओ तो? छात्र ने कहा–आप सब कुछ का विरोध करें–कर सकते हैं, पर शिक्षण का तो विरोध मत करो। बापू जी ने कहा–बिल्कुल ठीक है। लेकिन हम शिक्षण का विरोध तो नहीं करते।

वह लड़का कहता है–मेरी समझ में नहीं आ रहा, आप हमें घुमाना चाह रहे हैं? घुमाना नहीं चाह रहा हूँ बेटा! मैं यह कहना चाहता हूँ कि शिक्षण होना चाहिए और सभी को उससे लाभान्वित होना चाहिए, शिक्षित होना चाहिए। परन्तु शिक्षण की पद्धति भी तो सही-सही होनी चाहिए। जैसे हम दूध पी रहे हैं, लेकिन दूध पीते हुए शीशी में पी रहे हैं। भारतीय सभ्यता शीशी से दूध पीने की नहीं है। शीशी भी ऊपर से बिल्कुल काली है, जिसमें पता भी नहीं चले कि दूध है या और कुछ भी। एक तो शीशी में तथा दूसरे काले रंग वाली शीशी में और ऊपर से शराब की दुकान पर बैठकर पी रहे हैं। मुझे ऐसा लगा, गांधी जी ने बहुत चतुराई से काम लिया। उन्होंने शिक्षण का विरोध नहीं किया किन्तु शिक्षा प्रणाली का विरोध किया है। इसमें रहस्य यही है कि हम जिस शिक्षण प्रणाली से शिक्षा लेंगे तो आपके विचार भी तदनुसार ही होंगे, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता है। इसी प्रकार यदि आपके हाथ में शीशी है, वह भी काली, और उसमें रखा दूध आप शराब की दुकान पर बैठकर पी रहे हैं, तो एक भी व्यक्ति ऐसा न होगा जोकि देखकर आपको शराबी न समझे। इसलिए दूध को दूध के रूप में पिओ, भले ही दिखाकर पिओ, कि देखो, दूध पी रहा हूँ। इसी तरह वस्तु-विज्ञान को दिखाओ, पर दूसरों को विचलित न होने दो। जो वस्तु दिखा रहे हैं वह सत्ता के माध्यम से नहीं किन्तु आगम की पद्धति के अनुसार दिखाना चाहिए। इस प्रकार दिखाने से सामने वाले व्यक्ति का जो उपयोग है वह केन्द्रित होगा और उसका विश्वास हमारे ऊपर शीघ्र तथा ज्यादा होगा। वात्सल्य-प्रेम बढ़ेगा। यदि हठात् कहने लग जाएंगे तो एक भी बात मानने वाला नहीं होगा। अत: हमें जो शंका है उसे आगम के अनुरूप ही समाधान करके धारणा बनानी चाहिए।

धवला, जयधवला, महाबन्ध में आचार्यों ने कहा है कि श्रावकों का क्या कर्तव्य होना चाहिए–"दाणं पूया सीलमुनवासो"। जयधवला को सिद्धान्त ग्रन्थ माना जाता है। जिसे भगवद्गुणधर स्वामी ने लिखा है कि जिसकी टीका वीरसेन स्वामी ने की है उसमें उन्होंने श्रावक के चार आवश्यक धर्म बतलाये हैं। आवश्यकों को उन्होंने धर्म संज्ञा दी है। जो व्यक्ति दान को, पूजा को, शील को, उपवास को जड़ की क्रिया कहेगा तो उसके उस उपदेश से सारी की सारी जनता विमुख हो जाएगी। क्योंकि यह उपदेश प्रणाली ही आगम से उल्टी है। यह जड़ की क्रिया नहीं, धर्म की क्रिया है। वस्तुभूत जो धर्म है।

'वत्थुसहावो धम्मो' उस धर्म को प्राप्त करने के लिए श्रावकों के लिए चार आवश्यकों का मार्ग ही सही प्रणाली-पद्धति है। यही भगवान् का संदेश और आज्ञा भी है। जो व्यक्ति आज्ञा का उल्टा प्रयोग करके केवल बन्ध के कारणों में इन धर्मों को गिनाता है, इसके द्वारा संवर, निर्जरा नहीं मानता, वह अपने व्याख्यान से जिनवाणी का या कहे धर्म का अवर्णवाद कर रहा है।

यह वाक्य मेरे नहीं हैं। मैं तो केवल एक प्रकार का एजेन्ट हूँ। एजेन्ट का काम होता है कि सही-सही वस्तु का प्रसार करना। एक दुकान से दूसरी दुकान में पूरी-पूरी ईमानदारी के साथ दिखाओ। फिर भले ही कोई उस वस्तु को अच्छा कहे या बुरा। अच्छा कहे तो भी वस्तु वही है तथा बुरा कहने पर भी वही है। उसको तो दिखाने का वेतन कम्पनी से मिल ही रहा है, उसमें कोई बाधा नहीं। इस प्रकार मुझे भी अरहन्त भगवान् की तरफ से वेतन मिल रहा है। इसलिए इस प्रकार के व्याख्यान जब तक हम समाज के सामने नहीं रखेंगे, तब तक सही-सही स्वाध्याय की प्रणाली आने वाली नहीं है। यह करना हमारा कर्तव्य है। इसलिए इसे करना भी आवश्यक समझता हूँ समय-समय पर।

आज हम देख रहे हैं कि स्वाध्याय करते हुए भी जिस व्यक्ति के कदम आगे नहीं बढ़ रहे हैं, इसका अर्थ यही है कि उसे स्वाध्याय करना तो सिखा दिया है, किन्तु भीतरी अर्थ, जो वस्तुतत्त्व था, उससे उसे अपरिचित रखा है। उसको अंधेरे में रखा है। जो व्यक्ति वस्तुतत्त्व को अंधेरे में रखता है, वह व्यक्ति स्वयं भी खाली हाथ रह जाता है और दूसरे को भी खाली हाथ भेजता है-घुमाता रहता है। लेकिन हमारी (जिनवाणी की) दुकान ऐसी नहीं है। हम भी नीची दुकान-मकान रखते हैं परन्तु ऊंचे पकवान रखते हैं। "ऊंची दुकान फीके पकवान" यह नहीं मिलेंगे।

"वक्तृप्रामाण्याद्वचनं प्रामाण्यम्"-वक्ता की प्रमाणता से वचन प्रामाणिक होते हैं। कारण कि वक्ता यद्वा-तद्वा नहीं कह सकेगा। उसके पास किसी प्रकार का पक्षपात नहीं हुआ करता। एजेन्ट जो होता है वह किसी प्रकार से कम-वेशी दाम नहीं बताता। जिसको लेना हो लो, नहीं लेना हो, न लो। इससे उसे कोई फर्क नहीं पड़ता। लोग पूछते हैं, हम नहीं लेंगे तो तुम्हारा काम कैसे चलेगा? वह कहता है कि हमारी दुकान कम्पनी बहुत बड़ी है। जिसमें बिना काम के भी काम चलता है। कभी कम्पनी फेल होने की संभावना भी नहीं। ध्यान रखना, लौकिक कम्पनियां फेल हो सकती हैं पर वीतराग भगवान्

की कम्पनी तीनकाल में फेल नहीं हो सकती। इसलिए मैंने तो भैय्या ऐसी कम्पनी में नौकरी कर ली है कि जितना हम काम करेंगे, उतना दाम मुझे आयु के अन्त तक मिलता रहेगा।

अब हमें अपने जीवन में आजीविका की कोई चिन्ता नहीं। **आचार्यों ने कहा है -जिस चतुर वक्ता की आजीविका श्रोताओं के ऊपर निर्धारित है वह वक्ता वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन ठीक-ठीक नहीं कर सकता। उन्होंने कहा है** "क्रोधलोभभीरुत्वहास्यप्रत्याख्यानान्युवीचिभाषाणं च पंच।" वक्ता से पहले श्रोता को जान लेना चाहिए कि वक्ता कैसा-कौन है। जैसा पंडित जी ने अभी कहा था-किसका लेख है यह किसका प्रवचन है? यह ठीक-ठीक जान लेना आवश्यक है। यदि पाठक कुछ भी नहीं जानता और लेखक ठीक है तो वह सब कुछ मानने को तैयार है। नहीं तो वह मानने के लिए तैयार नहीं होगा। **सिद्धान्त कभी भी वक्ता के घर का नहीं चलता। जैसे घर की दुकान हो सकती है, लेकिन नाप-तौल के मापक घर के नहीं हो सकते।** क्यों भैय्या दुकानदारो! दुकानदार का मतलब है, दो कान वाले। दो कान वाले दुकानदारों! हम पूछना चाहते हैं कि माल आपका, दुकान आपकी, सब कुछ आपका, किन्तु नाप-तौल भी आपका हो तो? पकड़े जायेंगे। सब कुछ आपका हो सकता है पर नाप-तौल तो शासकीय ही होगा।

इसी प्रकार प्रवचन आप कर सकते हैं ग्रन्थ भी प्रकाशित कर सकते हैं। परन्तु घर का लिखा ग्रन्थ प्रकाशित नहीं कर सकते। आचार्यों के ग्रन्थों का सम्पादन/प्रकाशन करने वालों से हम यह कहना चाहते हैं कि ये ऐसा प्रकाशन करें, ऐसे सम्पादकों को रखें, अनुवादकों को रखें, जो जनसेवी हों और निर्भीक भी हों। विद्वानों के बिना यह काम सही-सही नहीं हो सकता, पर वे भी वेतन पर तुलने वाले नहीं होना चाहिए। कितने ही कष्ट आ जायें फिर भी वह इधर का डंडा (मात्रा) उधर लगाने को मंजूर न करता हो, इतना संयत हो।

वक्ता की परिभाषा करते हुए आचार्यों ने कहा है कि वक्ता निरीह हो, वीतरागी हो, पक्षपाती न हो, किसी भी प्रकार से प्रलोभन से उलट-पलट करने को तैयार न हो, वह होता है वक्ता।

एक वकील होता है और एक जज (न्यायाधीश) हुआ करता है। दोनों एल.एल.बी. हुआ करते हैं, किन्तु जजमेन्ट वकील नहीं दे सकता। जजमेन्ट

जज का ही माना जाता है। एक बार ही दिया जाता है उसमें, फिर हेर-फेर नहीं होता। चाहे अपील करें दूसरी अदालत में, यह दूसरी बात है। अदालत में एक बार लिख दिया जज ने सो लिख दिया। लेकिन वकीलों की स्थिति वह नहीं हुआ करती, उसके तो एक रात में हजारों "प्वाइन्ट" बदल जाते हैं। आज जज की बड़ी आवश्यकता है, वकीलों की नहीं। वकील को पेशी पर जाना पड़ता है, अतः पेशी कहलाती है। परन्तु जज की पेशी नहीं हुआ करतीं। कोर्ट में जज के सामने राष्ट्रपति को भी यूं (झुकना) करना पड़ता है। इसी तरह सिद्धान्त के सामने सबको झुकना पड़ता है। तीर्थंकर भी 'नमोऽस्तु' कहते हैं। जो वस्तुतत्व जैसा है, जिस रूप में है, वहीं सिद्धान्त है। उसी को नमस्कार करना पड़ता है। अरहन्त परमेष्ठी को भी नमस्कार नहीं करना होता है, आचार्य को भी नहीं, साधु को भी नहीं, लेकिन वस्तुस्वरूप में अवस्थित सिद्धपरमेष्ठी को उन्हें भी (तीर्थंकरों को) नमस्कार करना पड़ता है। अर्थात् तीर्थंकर उस हाईकोर्ट को नमोऽस्तु करते हैं जिससे ऊपर कोई नहीं। जिसके कोर्ट में कालिमा नहीं है। जज कैसे कपड़े पहनते हैं? फक-सफेद। और वकील् काला कोट पहनते हैं। भैय्या! इसलिए उनकी आज्ञा नहीं मानी जाती। जज की बात मानना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। इसी तरह सिद्धरूप शुद्धतत्त्व की बात मानने में हमारा कल्याण होगा, वीतरागी की बात मानने में कल्याण होगा, अन्य की में नहीं। बिना माने हमारा कल्याण संभव नहीं। यह सब हमारे आचार्यों ने कहा है, उसी तत्त्व तक ले जाने की बात उन्होंने की है।

बन्धुओ! हमें शब्दों की ओर से भीतरी अर्थ की ओर झुकना है। कहाँ तक कहूँ, कहा नहीं जाता। इन महान् आचार्यों के हमारे ऊपर उपकार है। हम उनका ऋण तभी चुका सकते हैं जब हम उनके कहे अनुसार (जैसा कहा वैसा) बनने का प्रयास करेंगे। कुन्दकुन्ददेव के समान तो नहीं चल सकते और उस प्रकार चलने का विचार भी शायद नहीं कर सकते, यह माना जा सकता है परन्तु उनका कहना है कि बेटा! जितनी तुम्हारी शक्ति है, उतनी शक्ति भर तो 28 मूलगुणों को धारण कर। उसमें यदि कमी नहीं करेगा तो मैं तुमसे बहुत प्रसन्न होऊँगा। तेरा उद्धार हो जाएगा, ऐसा समझो। तत्त्वार्थसूत्र में एक सूत्र आता है-**"परस्परोपग्रहो जीवानाम्"** इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि गुरु-शिष्य के ऊपर उपकार करता है और शिष्य गुरु के ऊपर। मालिक मुनीम के ऊपर उपकार करता है और मुनीम मालिक

के ऊपर। शिष्य गुरु से पूछता है कि हमारा उपकार आपके ऊपर कैसे हो सकता है? यह तो आपका ही उपकार मेरे ऊपर है जो कृपा की। तब आचार्य जवाब देते हैं कि गुरु का उपकार शिष्य को दीक्षा-शिक्षा देने में है और शिष्य का उपकार गुरु द्वारा जो बताया है, उस पर चलने में होता है। इसी तरह मुनीम का भी। जब तक उनके अनुसार नहीं चलेंगे तब तक हम अपने बाप-दादाओं के, अपने गुरुओं के द्वारा किये गये उपकार को नहीं समझ सकते तथा उनके उपकार को प्रत्युपकार के रूप में सामने लाना है, नहीं तो हम सपूत नहीं कहलायेंगे।

"पूत के लक्षण पालने में"-सब लोग इस कहावत को जानते हैं। शब्दों की गहराई में आप चले जाइये, और वस्तुतः शब्दों की गहराई में चले जाएँ, तब कहीं जाकर अर्थ को पा सकेंगे। पूत का लक्षण है-माता-पिता-गुरु की आज्ञा को पालने का। जो लड़का/पूत माता-पिता-गुरु की आज्ञा का पालन नहीं करता, वह तीनकाल में भी सपूत नहीं कहलायेगा। कहावत है-"पूत कपूत तो का धन संचय। पूत सपूत तो का धन संचय।" अर्थ यही हुआ, सपूत को कुल का दीपक माना गया है। देश की वंश की, कुल की, परम्परा में जो चार चांद लगा देता है वही सपूत है। हम अपने आपसे पूछ लें कि हम अरहन्त भगवान् के पूत हैं, सपूत हैं या...। कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि हम उनकी आज्ञा का यथासंभव पालन कर रहे हैं, जो हमारा कर्तव्य है। हम जिस तरफ भी कदम बढ़ायें, यदि माता-पिता-गुरुओं का वरदहस्त हमारे ऊपर रहेगा तो हम उस ओर अबाधित बढ़ते जायेंगे।

आज 12-13 साल हो गये, मालूम नहीं चला, कोई बाधा नहीं। पूज्य गुरुवर आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज का वरदहस्त सदा साथ रहा। और उनके ऊपर रहने वाले अनेक महान् आचार्यों के वरदहस्त भी साथ है।

घबड़ाना नहीं, जिस समय चक्रवात चलता है तो नाव आगे नहीं बढ़ती और पीछे भी नहीं जाती।। तब ताकत के साथ स्थिर रखनी होती है हमें। नाम नहीं करना जोरदार, पर काम जोरदार करना है। हमें अपनी नाव मजबूत रखना है, उसे चक्रवात से हटा के अलग नहीं करना है क्योंकि नाव की शोभा पानी में ही है। तथा उसको निश्छिद्र रखना है। जिस समय किसी छिद्र के द्वारा नाव में पानी आ जाएगा तो नाव डूब जाएगी। हमें कागज की नावों में नहीं चलना है। कागजी नावों से आज सारा का सारा समाज, सारे प्राणी परेशान हैं। आज नावें भी सही नहीं हैं बल्कि आज नाव

के स्थान पर चुनाव हावी होते जा रहें है। हमें अपने जीवन की नाव को भव-समुद्र में आये चक्रवात से रक्षा करके उस पार तक ले जाना है जहाँ तक अन्तिम मंजिल है।

आज ऋषभनाथ महाराज आहार के लिये उठेंगे। आप सभी नवधा भक्ति से खड़े होइये। 10 भक्ति या 8 भक्ति नहीं करना है। नवधा-भक्ति जब पूरी-पूरी होगी। तभी वे आहार ग्रहण करेंगे। आज हमें उनके माध्यम से दान की क्रिया या कहें ज्ञान की क्रिया समझनी है, जो वस्तुतः भीतरी आत्मा को प्राप्त करने की एक प्रणाली है। दिगम्बर चर्या खेल नहीं है। बन्धुओ! आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने इस चर्या के लिए महान् से महानतम उपमाएं दी हैं-यही प्रव्रज्या है, यही श्रमणत्व है, यही जिनत्व है, यही चैत्य है, यह चैत्यालय है, यही जिनागम है, यही सर्वस्व है, यही चलते-फिरते सिद्धों के रूप हैं। केवल ऊपर शरीर रह गया है, भीतर आत्मा वही है, जैसी कुन्दकुन्देव की है, जैसी सिद्ध भगवान् की है। कहाँ तक कहा जाए। यह पथ, यह चर्या ऐसी है, जिसका मूल्य कभी भी आंका नहीं जा सकता। अनमोल है यह चर्या, यह व्रत तो आज भी दिगम्बर सन्त पाल रहे हैं। अन्त में आचार्य ज्ञानसागर जी को स्मरणपथ पर लाकर यह व्याख्यान समाप्त करता हूँ।

तरणि ज्ञानसागर गुरो! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर करुणा करो, कर से दो आशीष॥

८

जिस समय युग के आदि में ऋषभनाथ को केवलज्ञान हुआ, उसी घड़ी वहाँ पर दो और घटनाएं घटी थीं। "भरत" प्रथम चक्रवर्ती माना जाता है, उसके पास एक साथ तीन दूत आकर के समाचार सुना रहे हैं। सर्वप्रथम व्यक्ति की वार्ता थी-प्रभो! आपका पुण्य कितना विशाल है, पता नहीं चलता। कामपुरुषार्थ के फलस्वरूप पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। दूसरा कहता है -हे स्वामिन्! इसकी बात तो घर तक की सीमित है तथा यह अवसर कई बार आया होगा। अभी तक हम लोग सुना करते थे कि आप छह खण्ड के अधिपति हैं, लेकिन आज आयुधशाला में एक ऐसी घटना घट गई, जैसे आप लोगों में चुनाव के लिए उम्मीदवार के रूप में खड़े हाने की संभावना पर "फॅलाने को टिकिट मिल गया" ऐसा सुनकर जीप वगैरह की भागा दौड़ी प्रारम्भ हो जाती है। ऐसी ही स्थिति वहाँ पर हो गई थी। आयुधशाला में चक्ररत्न की प्राप्ति हुई है, जो कि आपके चक्रवर्ती होने का प्रमाण प्रस्तुत कर रही है। तीसरा दूत कहता है-यह सब स्वार्थ की बाते हैं, हमारी बात

तो सुनो! मैं इन सबसे अद्भुत बात बताऊँगा। अर्थपुरुषार्थ करके कई बार इस प्रकार के दुर्लभ कार्य प्राप्त हुए हैं तथा कामपुरुषार्थ करके कई बार पुत्ररत्न की प्राप्ति हो गई, लेकिन धर्मपुरुषार्थ करके इस जीव ने अभी तक केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं की, पर आज आपके पिताजी मुनि ऋषभनाथ जी को केवलज्ञान की उपलब्धि हो गई है।

इन तीनों में बड़ी बात कौन-सी है भैय्या! आप कहेंगे कम से कम लाला का मुख तो देखना चाहिए पहिले। फिर दूसरी। अरे! चक्ररत्न की प्राप्ति हो गई, हुकूमत और सत्ता हाथ में आयी है। लेकिन यदि सही सत्ता की बात पूछना चाहते हो तो तीन लोक में वही सही सत्ता मानी जाती है, जिस सत्ता के सामने सारी सत्ताएं असत्ताएं हो जाये।। केवलज्ञान-सत्ता ही वास्तविक सत्ता है, जिसके समक्ष अन्य सत्ताएं कुछ भी नहीं है। तीनों की वार्ता सुनी और उठकर चलने को तैयार हो गये, लेकिन रनवास की ओर नहीं गये और न ही आयुधशाला की ओर, उन्होंने कहा-यह सब तो बाद की बात है, सर्वप्रथम तो समस्त परिवारजन को तैयार करो। अष्टमंगलद्रव्य के साथ और हाथी को उस ओर ले चलो जहाँ ऋषभनाथ भगवान के समवसरण की रचना हो चुकी है। हमें सुनना है कि भगवान् अब क्या कहेंगे? पिताजी की अवस्था में कुछ और बात कहा करते थे, अब तो कुछ भिन्न ही कहेंगे। अब मुझे बेटा भी नहीं कहेंगे वे, और मैं भी तो उन्हें पिताजी नहीं कहूँगा। अब वो ऐसे बन गये, ऐसे बन गये कि जैसे अनन्त काल से आज तक नहीं बने थे। आज तक उस दिव्य-दीपक का उदय नहीं हुआ था। अनन्तकाल से वह शक्ति छिपी हुई थी, केवलज्ञानवरण कर्म के द्वारा, जो आज व्यक्त हुई है। इस तरह के विचारों में निमग्न होते हुए समवसरण में पहुँचे।

समवसरण में पहुँचते ही भरत चक्रवर्ती ने 'नमोऽस्तु' कर भगवान् की दिव्यध्वनि सुनी। सुनकर वे तृप्त हो गये। "मैं और कुछ नहीं चाहता, मेरे जीवन में यह घड़ी, यह समय कब आयेगा, जब मैं अपने जीवन को स्वस्थ बनाऊँगा" भगवान् ने स्वस्थ बनने का प्रयास लगातार एक हजार वर्ष तक किया और आज वे स्वस्थ बन गये, आज उसका फल मिल गया।

मोक्ष-पुरुषार्थ किए बिना, मोह को हटाये बिना, तीनकाल में केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, इसके उपरान्त ही मुक्ति मिलेगी। यह बात अलग है कि किसी को केवलज्ञान होने के उपरान्त अन्तर्मुहूर्त में ही मुक्ति मिल सकती है और किसी को कुछ कम पूर्वकोटि तक भी विश्राम करना पड़ता है।

अब दिव्यध्वनि क्यों? या यह कहिए कि केवल ज्ञान होने के उपरान्त उनकी क्या स्थिति रहती है, जानने-देखने के विषय में? यह प्रश्न सहज ही उठता है क्योंकि जब श्रेणी में ही निश्चयनय का आश्रय करके वह आत्मस्थ होने का प्रयास करते हैं तो केवलज्ञान होने के उपरान्त दुनियां की बातों को देखने में लगेंगे क्या? ऐसा सवाल तो तीन काल में भी नहीं होना चाहिए ना, लेकिन नहीं। नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने कहा कि केवलज्ञान होने के उपरान्त केवल भगवान् इस तरह जानते हैं, देखते हैं–

जाणदि पस्सदि सव्वं वेवहारणयेण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥59॥

शुद्धोपयोग अधिकार में कहा है कि केवली भगवान् नियम से अर्थात् निश्चय से या यो कहें नियति से, अपनी आत्मा को छोड़कर के दूसरों को जानने का प्रयास नहीं करते। परन्तु व्यवहार से वे स्व और पर दोनों को अर्थात् सबको-सब लोकालोक को जानते हैं, देखते हैं।

सर्वज्ञत्व आत्मा का स्वभाव नहीं है। यह उनके उज्ज्वल ज्ञान की एक परिणति मात्र है। अतः व्यवहारनय की अपेक्षा से कहा जाता है कि वे सबको जानते हैं। ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध तो वस्तुतः अपना, अपने को, अपने साथ, अपने लिए, अपने से, अपने में जानने-देखने से सिद्ध हुआ करता है, ऐसा समयसार का व्याख्यान है। इस तरह का श्रद्धान रखना-बनाना ही निश्चयसभ्यग्दर्शन कहा है तथा भेदरूप श्रद्धान को व्यवहार सभ्यग्दर्शन कहते हैं। इसलिए–

सकल ज्ञेय-ज्ञायक तदपि, निजानन्द रसलीन।
सो जिनेन्द्र जयवन्त नित, अरि रज रहस विहीन॥

केवल भगवान् सबको जानते हैं व्यवहार की अपेक्षा से, किन्तु आनन्द का जो अनुभव कर रहे हैं वह किसमें? अपने भीतर कर रहे हैं। यही वस्तुतत्त्व है। णियमेण अर्थात् निश्चय से देखेंगे तो सबको नहीं देखेंगे, सबको नहीं जानेंगे। सबको जानने-देखने का पुरुषार्थ उन्होंने किया नहीं था। यदि सबको देखने-जानने का पुरुषार्थ कर लें तो गड़बड़ हो जाएगा। उनका ज्ञान स्वतन्त्र है, वे स्वतन्त्र हैं और उनके गुण भी स्वतन्त्र हैं। किसी और के लिए उनका अस्तित्व, उनका वैभव नहीं, उनकी शक्ति नहीं। स्वयं के लिए है, पर के लिए नहीं। हमारे लिए वो केवली नहीं किन्तु स्वयं अपने लिए केवली है। हमारे लिए तो हमारा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान है, वही साथ-साथ रह

रहा है किन्तु केवली का ज्ञान तो हमारे लिए आदर्श होगा। आदर्श से हम भी अपने मतिज्ञान, श्रुतज्ञान को मिटाकर केवलज्ञान में परिणत कर सकते हैं, ऐसा आदर्श ज्ञान देखकर हमारे भीतर भी आदर्श बनना चाहिए।

छद्मस्थावस्था में उपयोग हमेशा अर्थ-पदार्थ को ही लेकर चलता है। छद्मस्थावस्था का सामान्य लक्षण भी यही बनाना चाहिये कि, जो ज्ञान पदार्थ की ओर मुड़कर जानता है वह ज्ञान छद्मस्थ का है और जो पदार्थ की ओर मुड़े बिना अपने-आप से अपने-आपको जानता है या अपने आप में लीन रहता है वह केवलज्ञान प्रत्यक्ष पूर्णज्ञान है। चाहे मतिज्ञान हो या श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान हो या मनःपर्यय, चारों ही ज्ञान पदार्थ की ओर मुड़कर के जानते हैं। यही आकुलता है। फिर ज्ञान की निराकुलता क्या है? ज्ञान की निराकुलता यही है कि वह पदार्थ की ओर न मुड़कर के अपनी ओर, अपने में ही रहे। केवलज्ञान ही एक ऐसा ज्ञान है जो पदार्थ की ओर नहीं मुड़ता है, मुड़ना ही आकुलता है। स्व को छोड़कर के पर की ओर मुड़ा जाता है और पर को छोड़कर स्व की ओर मुड़ा जाता है। दो प्रकार के मोड़ हैं। हमारा मोड़ तो दूसरे की होड़ के लिए पर की ओर मुड़ता है। अपनी वस्तु को छोड़कर जिसका ज्ञान, पर के मूल्यांकन के लिए चला जाता है वह छद्मस्थ का आकुलित ज्ञान, रागी-द्वेषी का ज्ञान है। केवली का ज्ञान सब कुछ झलकते हुये भी अपने-आप में लीन है, स्वस्थ है।

ज्ञान का
पदार्थ की ओर
ढुलक जाना ही
परम-आर्त
पीड़ा है, दुःख है
और पदार्थ का
ज्ञान में झलक आना ही
परमार्थ
क्रीड़ा है सुख है.....?

हम दूसरों को समझाने का प्रयास कर रहे हैं। दूसरों के लिए हमारा जीवन होता जा रहा है, लेकिन दर्पण जिस प्रकार बैठा रहता है, उसी प्रकार केवलज्ञान बैठा रहता है। उसके सामने जो कोई भी पदार्थमालिका आती है तो वह झलक जाती है। यह केवलज्ञान की विशेषता है। सुबह मंगलाचरण

किया था जिसमें अमृतचन्दाचार्य जी ने कहा था देखो–"पदार्थमालिका प्रतिफलति यत्र तस्मिन् ज्योतिषि तत् ज्योतिः जयतु"–वह केवलज्ञान-ज्योति जयवन्त रहे जिस केवलज्ञान में सारे के सारे पदार्थ झलक जाते हैं लेकिन पदार्थों की ओर ज्योति नहीं जाती। दर्पण पदार्थ की ओर नहीं जाता और पदार्थ दर्पण की ओर नहीं आते, फिर भी झलक जाते हैं। तो दर्पण अपना मुख बन्द भी नहीं करता। ज्ञेयों के द्वारा यदि ज्ञान में हलचल हो जाती है, आकुलता हो जाती है तो वह छद्मस्थ का ज्ञान है, ऐसा समझना है और तीन लोक के सम्पूर्ण ज्ञेय जिसमें झलक जाएं और आकुलता न हो, फिर भी सुख का अनुभव करें, वही केवलज्ञान हैं। यह स्थिति छद्मस्थावस्था में तीनकाल में बनती नहीं है। इसलिए छद्मस्थावस्था में केवलज्ञान की किरण केवलज्ञान का अंश मानना भी हमारी गलत धारणा है। क्योंकि केवलज्ञान की क्वालिटी का ज्ञान छद्मस्थावस्था में मानने पर सर्वघाती प्रकृति को भी, देशघाती के रूप में अथवा अभावात्मक मानना होगा। जो कि सिद्धान्त-ग्रंथों को मान्य नहीं है। इस जीव की वह केवलज्ञान शक्ति अनन्तकाल से अभावरूप (अव्यक्त) है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा में एक गाथा आती है–

का वि अपुव्वा दीसदि पुग्गलदव्वस्स एरिसि सत्ती।
केवलणाणसहावो विणासिदो जाइ जीवस्स।।211।।

पुद्गल के पास ऐसी अद्भुत शक्ति नियम से है, जिस शक्ति के द्वारा उससे जीव का स्वभावभूत केवलज्ञान एक प्रकार से नाश को प्राप्त हुआ है। कर्म सिद्धान्त के ग्रन्थों में कर्म के दो भेद बताए गये हैं। "जैन सिद्धान्त प्रवेशिका" में पं. गोपालदास बरैया ने इसकी परिभाषा स्पष्ट की है, जिसे आचार्यों ने भी स्पष्ट किया है। वे दो भेद हैं–देशघाती और सर्वघाती। केवलज्ञानावरणी कर्म का स्वभाव सर्वघाती बताया है। सर्वघाती प्रकृति को बताया है कि वह इस प्रकार होती है जिस प्रकार कि सूर्योदय के साथ अन्धकार का कोई सम्बन्ध नहीं, तथा अन्धकार के सद्भाव के साथ सूर्य का। अर्थ यह हुआ कि केवलज्ञान की जो परिणति है, उस परिणति की एक किरण भी बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय तक उद्घाटित नहीं होगी, क्योंकि केवलज्ञानावरण कर्म की ऐसी "अपोजिट" शक्ति है जिसको बोलते हैं सर्वघाती। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पुद्गल के पास भी ऐसी शक्ति है कि जो बारहवें गुणस्थान में जाने के उपरान्त भी जीव को अज्ञानी घोषित कर देती है। बारहवें गुणस्थानवर्ती छद्मस्थ माने जाते हैं, लेकिन वीतरागी इसलिए

है कि मोह का पूर्ण रूप से क्षय हो चुका है। बड़ी अद्भुत बात है, मोह का क्षय होने के उपरान्त भी वहाँ पर अज्ञान पल रहा है, यह भंग प्रथम गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक चलता है। चाहे वो एकेन्द्रिय हो या पंचेन्द्रिय, चाहे पशु हो या देव, चाहे मुनि हो या आर्यिका, कोई भी हो बारहवें गुणस्थान तक, जब तक उसका पूर्ण विकास नहीं हो जाता, तब तक अज्ञान रूप भंग उसके सामने से हट नहीं सकेगा। घातिया कर्मों को नष्ट किये बिना केवलज्ञान का प्रादुर्भाव तीनकाल में भी नहीं हो सकेगा। उस केवलज्ञान की महिमा कहाँ तक कही जाये। कितना पुरुषार्थ किया होगा उन्होंने, उस पुद्गल की शक्ति का संहार करने के लिए! बात बहुत कठिन है और सरल भी है कि एक अन्तर्मुहूत में आठ साल का कोई लड़का जो कि निगोद से निकल कर आया है, यहाँ पर उसने मनुष्य पर्याय प्राप्त की। आठ साल हुए नहीं कि वह भी इतना बड़ा अद्भुत कार्य अपने जीवन में कर सकता है। इतना सरल है। और कठिनाई को तो आप जानते ही हैं कि 1000 वर्ष तक कठिन तप किया भगवान् ऋषभनाथ ने, तब कहीं जाकर के केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

जीव के पास भी ऐसी-ऐसी अद्भुत शक्तियां हैं जिनसे कर्मों की चित्र-विचित्र शक्तियों को नष्ट कर देता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के आठ कर्म होते हैं। आठ कर्मों में भी 148 भेद और हो जाते हैं, यह संख्या की अपेक्षा है। परन्तु 148 कर्म के भी असंख्यात लोक प्रमाण भेद हो जाते हैं। किसके कर्म किस क्वालिटी के हैं–जाति की अपेक्षा, नाम की अपेक्षा से तो मूल में आठ होते हुए भी उनकी भीतरी क्वालिटी के बारे में हम कोई अन्दाजा नहीं कर सकते, क्योंकि हमारा ज्ञान छद्मस्थ/अल्प है। इसीलिए किसी को अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान होना संभव है और किसी को हजारों वर्ष भी लग सकते हैं।

केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए कई प्रकार की निर्जरा करनी पड़ती है। निर्जरा अधिकार में आचार्यों ने कहा है कि कर्म दो प्रकार के हैं-पाप और पुण्य। इनकी निर्जरा किये बिना मुक्ति संभव नहीं, केवलज्ञान नहीं और कुछ भी नहीं। पहले-पहल पाप कर्मों की निर्जरा की जाती है, पुण्य कर्म की नहीं। पाप कर्मों में भी सर्वप्रथम घातिया कर्मों की निर्जरा की जाती है, अघातिया कर्मों की नहीं। कुछ सापेक्ष रूप से हो जाती है यह बात अलग है। जैसे कुछ पौधों को बो दिया, लगा दिया, रोप दिया, खाद पानी दे दिया तो उसके साथ घास-पूस भी उग आया। तब घास-पूस को उखाड़ा जाता है लेकिन उसके

साथ-साथ कुछ पौधे जो कि रोपे गये थे उखड़ जाते हैं। उनको उखाड़ने का अभिप्राय नहीं होता। वस्तुत: इसी तरह सापेक्षित रूप से कुछ अघातिया कर्मों की भी निर्जरा हो जाती है, की नहीं जाती। सर्वप्रथम सम्यग्दृष्टि जीव निर्जरा करता है तो पाप कर्म की ही करता है, यह जैन कर्म-सिद्धान्त है। मैंने धवला में कहीं नहीं देखा कि सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य कर्म की निर्जरा करता है। बल्कि यह कथन तो धवला में बार-बार आया है कि "सम्माइट्ठी पसत्थकम्माणं अणुभागं कदावि ण हणदि" प्रशस्त कर्मों के अनुभाग की निर्जरा सम्यग्दृष्टि तीनकाल में कभी भी नहीं करता, क्योंकि जो बाधक होता है मार्ग में, उसी की सर्वप्रथम निर्जरा की जाती है। इसी प्रकार हम पूछते हैं कि आस्रव और बन्ध की क्रिया में भी वह कौन-सी पुण्य प्रकृति को बन्ध होने से रोक देता है? 10वें गुणस्थान तक की व्यवस्था में जो प्रशस्त कर्म बंधते हैं तो कर्म सिद्धान्त के वेत्ता बताएं कि उनमें से कितने, कौन से प्रशस्त कर्मों को रोकता है? अर्थ यह हुआ कि कर्मों की निर्जरा किये बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता, लेकिन कर्मों की निर्जरा का क्रम भी निश्चित है, वह कैसा है? यह देखने की बड़ी आवश्यकता है विद्वानों को, स्वाध्यायप्रेमियों को और साधकों को। इस क्रम को देखकर के, जानकर के जब हमारा श्रद्धान बनेगा तब ही हमारा श्रद्धान सही होगा, तीन प्रकार के विपर्यासों से रहित होगा। तीन प्रकार के विपर्यास हुआ करते हैं-एक कारण विपर्यास, दूसरा स्वरूप विपर्यास और तीसरा भेदाभेद विपर्यास। कौन-सा कारण, किसके लिए बाधक है, इसका सही-सही ज्ञान नहीं है, वह कह देता है-

जिन पुण्य-पाप नहीं कीना, आतम अनुभव चित दीना।
तिनही विधि आवत रोके, संवर लहि सुख अवलोके॥

सम्यग्दृष्टि पुण्य और पाप दोनों से परे होता है। न वह पुण्य करता है और न ही पाप। तब कहीं आत्मिक सुख का अनुभव करता है। लेकिन यहाँ पर ध्यान रखो पं. दौलतराम जी संवर भावना का व्याख्यान कर रहे हैं, इसलिए पुण्य और पाप दोनों के कर्त्तव्य से भिन्नता की बात कही है, न कि कर्म-सिद्धान्त की अपेक्षा से। उन कर्मों की बन्धव्युच्छित्ति आदि की अपेक्षा से भी नहीं। आगम का कथन तो है कि 10वें गुणस्थान तक पुण्य के आस्रव को रोकने का कहीं भी सवाल नही। और दसवें गुणस्थान के ऊपर तो ना पुण्य कर्मों का और ना ही पाप कर्मों का साम्परायिक आस्रव होता है। यह सब वहाँ भावनाकार पं. दौलतराम जी के कथन में अविवक्षित है, कारण कि

वहाँ मात्र भावना की ही विविक्षा है। कल पंडितजी जो कह रहे थे कि "सम्यग्दृष्टि पूर्वबद्ध पुण्य-पाप कर्मों की निर्जरा करता है और नवीन पुण्य-पाप कर्मों को रोक देता है, जो पुण्यास्रव को रोकने का प्रयास नहीं करता, वह व्यक्ति सम्यग्दृष्टि नहीं है, वह तो अभी विपर्यास में पड़ा है। अब आप ही देख लीजिए कि विपर्यास में कौन है? बात ऐसी है कि जब हम इन धवलादि चालीस किताबों का अध्ययन करते हैं तो बहुत डर लगने लग जाता है कि थोड़ी-सी भूल से हम जिनवाणी को दोषयुक्त करने में भागीदार हो जायेंगे। बहुत ही सावधानी की बात है। संभाल-संभाल कर बोल रहा हूँ। भगवान् यहाँ पर बैठे हैं, दिव्यज्ञानी हैं।

पं. दौलतराम जी ने बहुत मार्के की बात कही है "जिन पुण्य पाप नहीं कीना" इसका अर्थ हुआ कि साम्परायिक आस्रव 10वें गुणस्थान तक होता है। साम्परायिक का अर्थ होता है कषाय, जिसके माध्यम से आगत कर्मों में स्थिति और अनुभाग पड़ जाता है। इसके उपरान्त ईर्यापथ आस्रव होता है वह भी एक मात्र सातावेदनीय का। जो दुनियां को साता देता है, उस साता के अभाव में आप तिलमिला जायेंगे। केवल असाता-असाता का बन्ध कभी नहीं होता है, न ही संभव है। क्योंकि साता-असाता दोनों आवश्यक है संसार की यात्रा के लिए। पुण्य और पाप दोनों चाहिए। अकेला पुण्य का आस्रव दसवें गुणस्थान तक कभी भी नहीं होता और अकेले पाप का भी नहीं। केवल साता का आस्रव 11.12.13वें गुणस्थान इन तीनों में होता है। इस कर्मास्रव (पुण्यास्रव) से हमारा कोई भी बिगाड़ नहीं होता। मुक्ति के लिए बिगाड़ फिर भी हैं, लेकिन केवलज्ञान के लिए यह कर्मास्रव (पुण्यास्रव) बेड़ी नहीं है, क्या कहा? सुना कि नहीं। केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए घातिया कर्मों का नाश करना होता है, घातिया कर्मों में, चाहे मूल प्रकृति हो या उत्तर प्रकृति, कोई भी प्रकृति प्रशस्त प्रकृति नहीं होती। इसलिए जैनाचार्यों का कहना है कि सर्वप्रथम पाप कर्मों की निर्जरा करके नवीन कर्मों को तू रोक ले पुण्य तेरे लिए कोई विपरीत काम नहीं करेगा, बाधक नहीं होगा। पुण्य को रखने की बात नहीं कही जा रही है, लेकिन निर्जरा का क्रम तो यही होगा कि सर्वप्रथम पाप का संवर करें, नवीन पापास्रव को रोकें, पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करें और वर्तमान बन्ध को मिटा दें तो नियम से वह केवलज्ञान प्राप्त करा देगा। यह भी ध्यान रखना कि जब तक साता का आस्रव होता रहेगा तब तक उसे मुक्ति का कोई ठिकाना नहीं है। केवलज्ञान होने के

उपरान्त भी आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि वर्ष तक भी वह रह सकता हैं वैभाविक पर्याय में और केवल साता का आस्रव होता रहा है। उस आस्रव को रोकने के लिए आचार्य कहते हैं कि तृतीय व चतुर्थ शुक्ल ध्यान आवश्यक है, वे ही भीतर बैठे हुए अघातिया कर्मों को नाश करने मे समर्थ हैं। अघातिया कर्मों की निर्जरा करने का नम्बर बाद में आता है, लेकिन घातिया कर्मों की निर्जरा करने का प्रावधान पहले है।

संवर के क्षेत्र में, बन्ध के क्षेत्र में भी इसी क्रम की बात आती है। इसलिए "जिन पुण्य पाप नहीं कीना" इस दोहे का अर्थ–मर्म सही-सही वही व्यक्ति समझ सकता है जो कर्म सिद्धान्त के बारे में सही-सही जानकारी रखता है। यदि इस प्रकार की सही-सही जानकारी नहीं रखता हुआ भी वह कहता है कि सम्यग्दृष्टि पाप-पुण्य दोनों प्रकार के कर्मास्रव हो रोक देता है, वह भी चतुर्थगुणस्थान में रोक देता है, तो उसे तो अपने-आप ही बन्ध होगा और कोई छोटा बन्ध नहीं, बहुत बड़ा बन्ध माना जायेगा, क्योंकि सामने वाला सोचेगा कि विकल्प तो मिटे नहीं, फिर भी यह कह रहे हैं कि पुण्य नहीं होना चाहिए और हो रहा है तो इसका अर्थ है कि मेरे पास सम्यग्दर्शन नहीं है और धर्मात्मा भी नहीं हो सकता जब तक, तब तक कि पुण्य बन्ध को न रोकूं। ऐसा करने वाले व्यक्ति के पास जब खुद के सम्यग्दर्शन का पतियारा (ठिकाना) नहीं है, तो चारित्र की बात करना ही गलत हो जाएगी। इस प्रकार यदि श्रद्धान बना लेता है तो दोनों ही ओर बढ़े चले जा रहे हैं–उपदेश सुनने वाला भी और उपदेश देने वाला भी। जैसा कि कहा है–

"केचित्प्रमादान्नष्टाः केचिच्चाज्ञानान्नष्टाः, केचिन्नष्टैरपि नष्टाः"

कुछ लोग प्रमाद के द्वारा नष्ट हो जाते हैं, कुछ लोग अज्ञान के द्वारा नष्ट हो जाते हैं और कुछ लोग नष्ट हो रहे लोगों के पीछे-पीछे नष्ट हो जाते हैं। हम सिद्धान्त का ध्यान नहीं रख पाते हैं, इससे बातों-बातों में कितना गलत कह जाते हैं, यह पता भी नहीं चलता। इसलिए बन्धुओ! यदि आप स्वाध्याय का नियम लेते हैं तो दूसरों को सुनाने का विकल्प छोड़कर लीजिए, तभी नियम ठीक होगा। दूसरों को समझाने की अपेक्षा से भी नहीं। दूसरों को समझाने चले जाओगे तो लाभ कम होगा, हानि ज्यादा होगी। इसके द्वारा जिनवाणी को सदोष बनाने में और हाथ आ जायेगा। भीति लगती है कि 40 किताबों में कहां-कहां पर कैसे-कैसे भंग

बनते हैं, यह भी पता नहीं चल पाता और अपनी तरफ से उसमें जजमेंट देने लगते हैं। जबकि हम उसके अधिकारी नहीं होते। इसलिए सोच लेना चाहिए कि चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन को कौन-कौन से पुण्य कर्म का संवर होता है? 148 ही तो कर्मों की संख्या है, और कोई ज्यादा नहीं है जो कि याद न रह सके। यहाँ दुनियादारी के क्षेत्र में तो हम बहुत कुछ याद कर लेते हैं, लेकिन 148 में से चतुर्थगुणस्थान में कौन-कौन से कर्म का आस्रव रुका, संवर हुआ, उनमें प्रशस्त कितने, अप्रशस्त कितने हैं? पाप कर्म कितने हैं, पुण्य कितने हैं, यह याद नहीं रह पाता? यदि इसको ठीक-ठीक समझ लें तो अपने आप ही ज्ञात हो जायेगा कि हमारी धारणा आज तक पुण्य कर्म को रोकने में लगी रही, लेकिन आगम में ऐसा कहीं लिखा नहीं है।

बात खुरई की है जब आगम वाचना में निकला कि "सम्माइट्ठी पसत्थकम्माणं अणुभागं कदावि ण हणदि" तो देखते रह गये। वाह..... वाह! स्वाध्याय करिये, इसे मैं बहुत पसन्द करूंगा। इस प्रकार के सही-सही स्वाध्याय से एक-दो दिन में ही आप अपनी प्रतिभा के द्वारा बहुत-सी गलत धारणाओं का समाधान पा जायेंगे। लेकिन यह ध्यान रखना कि ग्रन्थ आर्षप्रणीत मूल संस्कृत और प्राकृत के हों, उनका स्वाध्याय करना। उनमें भाषा सम्बन्धी कोई खास व्यवधान नहीं आयेगा। यदि कुछ व्यवधान आ भी रहे हों तो उसमें स्वाध्याय की कमी नहीं, हमारे क्षयोपशम की, बुद्धि में समझ सकने की कमी हो सकती है। आप बार-बार पढ़िये, अपने आप समझ पैदा होगी, ज्ञान बढ़ेगा। महाराज जी ने एक बार कहा था कि "एक ग्रन्थ का एक ही बार अवलोकन करके नहीं छोड़ना चाहिए। तो फिर कितनी बार करना चाहिए? 108 बार करना चाहिए कम से कम, लेकिन वह भी ऐसा नहीं कि "तोता रटन्त पाठ करो" किन्तु पहले की अपेक्षा दूसरी बार में, दूसरी की अपेक्षा तीसरी बार में आपकी प्रतिभा बढ़ती रहनी चाहिए, तर्कणा पैनी होनी चाहिए, तो अपने-आप शंकाओं का समाधान होता चला जाता है।

आज हमारी स्मरण शक्ति, बुद्धि 148 कर्मों के नाम भी नहीं जानती और आद्योपान्त ग्रन्थ का अध्ययन करना तो मानो सीखा ही नहीं, और हम चतुर्थगुणस्थान में पुण्य-पाप, दोनों कर्मों के आस्रव से उस सम्यग्दर्शन को दूर कराने के प्रयास चालू कर देते हैं, लेकिन सफल नहीं हो पाते और न आगे कभी सफल हो सकेंगे।

बन्धुओ! यह बात अच्छी नहीं लग रही होगी। परन्तु मां जिनवाणी की ही है, मैं नहीं कह रहा हूँ। मैं तो बीच में मात्र भाषान्तरकार के रूप में हूँ। जिनवाणी कह रही है, आप सोचिए और पं. दौलतराम जी को सही-सही समझने का प्रयास कीजिए। वे संवर के प्रकरण को लेकर के, सर्वप्रथम मुनियों की बात कह रहे हैं कि बारह भावनाओं का चिन्तन कौन करता है, आप कहेंगे महाराज! क्या श्रावक नहीं कर सकते? नहीं। करना तो सभी को चाहिए, बात करने की नहीं। लेकिन भावना फलीभूत किसकी होगी? ठीक-ठीक किसकी होगी? तो उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में स्वयं कहा है कि–

"स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैः"

भावना सही-सही होनी चाहिए। भावना केवल पाठ न रह जाए, अतः चारित्र को अंगीकार करके परिषहों के साथ बारहभावनाओं का चिन्तन, धर्म को समीचीन बनाते हुए समितियों में सम्यक्पना लाते हुए, गुप्ति की ओर बढ़ना, यही एकमात्र संवर का यहाँ पर तात्पर्य परिफलित होता है। तो बारह भावनाओं का चिन्तन ज्यों ही तीर्थकरों ने किया, तो वन की ओर चले गए। उस समय ऊपर की ओर से कौन आते हैं? देवर्षि आते हैं। कौन होते हैं वे देवर्षि? लौकान्तिक देवों को कहते हैं देवर्षि, बालब्रह्मचारी होते हैं, पंचम स्वर्ग के ऊपर उनकी कालोनी बनी है, उनमें रहते हैं। द्वादशांग के पाठी होते हैं, सफेद वस्त्र धारण करते हैं, वहाँ कोई भी देवियाँ नहीं होतीं तथा हमेशा बारहभावनाओं का चिन्तन करते रहते हैं। वे कहाँ से गए हैं? तो जाते तो हैं वे मात्र भरत, ऐरावत एवं विदेह क्षेत्र की कर्मभूमियों से, भोग भूमि से कोई नहीं जा सकता वहाँ पर। महाराज, क्या सम्यग्दृष्टि वहाँ जा सकते हैं? हाँ सम्यग्दृष्टि ही जाते हैं लेकिन "अविरत सम्यग्दृष्टि लौकान्तिक देव नहीं हो सकते हैं।" किसी एक व्यक्ति से कल हमने सुना–वह कह रहे थे कि महाराज! वहां पर रात्रि में चर्चा चल रही थी कि अविरत सम्यग्दृष्टि लौकान्तिक देव हो सकते हैं, लेकिन आप तो कह रहे थे कि मुनि बने बिना नहीं जा सकते हैं। कौन कहता है कि अविरतसम्यग्दृष्टि लौकान्तिक देव हो सकता है? मैं तो अभी भी कह रहा इं कि प्रत्येक मुनि के पास भी लौकान्तिक बनने की योग्यता नहीं। जो रत्नत्रय को पूर्णरूपेण निभाता है वह भावनाओं के चिन्तन में अपने जीवन को खपाता है, महाव्रतों का निर्दोष पालन करता है, इस प्रकार की चर्चा निभाते हुए अन्त में वह लौकान्तिक बनता है। 'तिलोयपण्णत्ति' को उठाकर के देख लेना चाहिए। जो व्यक्ति मुनि हुए बिना चतुर्थगुणस्थान से लौकान्तिक देव बनने का प्रयास कर रहा है वह व्यक्ति

इस ओर नहीं देख रहा है जो तिलोयपण्णत्ति में कहा गया है। इस प्रकार की कई गल्तियां हमारे अन्दर घर कर चुकी हैं। यदि अज्ञान के कारण कोई बात अन्यथा हो जाए तो बात एक बार अलग है, क्षम्य है। लेकिन तत्सम्बन्धी जिसे ज्ञान भी नहीं और ऊपर से आग्रह है तो उन्हें इस प्रकार के उपदेश या प्रवचन नहीं देना चाहिए। प्रवचन देने का निषेध नहीं है किन्तु जिस विषय के बारे में पूर्वापर ज्ञान हमें सही-सही नहीं है और उसका हम प्रवचन दें तो इसमें बहुत सारे व्यवधान हो सकते हैं। यदि इसमें कषाय और आ जाए तो फिर बहुत गड़बड़ हो जाएगा। मोक्षमार्ग बहुत सुकुमार है और बहुत कठिन भी। अपने लिए कठोर होना चाहिए और दूसरों के लिए सुकुमार है और बहुत कठिन भी। अपने लिए कठोर होना चाहिए और दूसरों के लिए सुकुमार होना चाहिए किन्तु कषायों की वजह से दूसरों को कठोर बना देते हैं और अपने लिए नरम बना लेना चाहते हैं। लेकिन मोक्षमार्ग है, आप की इच्छा के अनुसार नहीं बनने वाला, भैय्या!

भगवान् के दर्शन अच्छे ढंग से करो, उनकी भक्ति करो। भगवान् की भक्ति करने से हमें कुछ नहीं होता, ऐसा नहीं सोचना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्द जैसे आचार्य भी कहते हैं कि–

अरिहंत णमोक्कारो, भावेण य जो करेदि पयडमदी।
सो सव्वदुक्खमोक्खं, पावदि अचिरेण कालेण।।

जो प्रयत्नवान् होकर के अरहन्तों की भक्ति करता है, भावों की एकाग्रता के साथ करता है तो नियम से वह कुछ ही दिनों में, घड़ियों में सभी दुःखों से मुक्ति पा जायेगा। "भावेण" यह शब्द बहुत मार्के का है। अर्थ यह है कि अरहन्त भक्ति करो पर "हेयबुद्धि से करना" इस पर मन कुछ सोचने को कहता है। कई लोग ऐसा व्याख्यान देते हैं कि भक्ति आदि क्रियाएं हेयबुद्धि से करना चाहिए, लेकिन वह मेरे गले नहीं उतरता है। कई लोग कहते हैं कि महाराज! कम से कम अरहन्तभक्ति करते समय हमारी हेयबुद्धि कैसे हो? हम तो हैरान हो जाते हैं कि भैया! इस प्रकार का प्रश्न तो आपने कर दिया हमारे सामने किन्तु इसके लिए उत्तर मैं कहाँ से ढूंढू? और यदि इसका उत्तर समीचीन नहीं देता हूँ तो मुझे दोष लगेगा। आपको कुछ नहीं कहने पर आप और भी इस तरह की गलत धारणा बना लेंगे। दूसरी तरफ आगम में ऐसा कुछ कहा भी नहीं जिससे, आपका समाधान हो सके। अब तो फंदे में पड़ गये हम। किन्तु फिर भी ढूंढता रहता हूँ कि अरहन्त-भक्ति करते-करते

किसी को भी केवलज्ञान नहीं हुआ, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि अरहन्त-भक्ति के द्वारा संवर और निर्जरा भी नहीं होती। ऐसा कदापि नहीं मानना। संवर, निर्जरा नियम से होती है। इस संवर-निर्जरा के द्वारा साक्षात्केवलज्ञान नहीं होता। यह बात बिल्कुल अलग है कि जो केवलज्ञान प्राप्ति की भूमिका में है और "अरहन्त-भक्ति (अरहन्त-सिद्ध)" करता रहेगा तो उसे अरहन्त पद नहीं मिलेगा क्योंकि उसकी स्थिति अभी पराश्रित है।

समयसारादि ग्रन्थों में कहा गया है कि अरे! तू मुनि हो गया, अब शुद्धोपयोग धारण कर, शुद्धोपयोग में लीन हो जा। यदि शुद्धोपयोग में लीन हो जाएगा तो तू भी उन्ही के समान बन जाएगा। जिसकी भक्ति कर रहा है।

सुबह प्रार्थना में भजन में कोई सज्जन कह रहे थे कि "भक्त नहीं भगवान् बनेंगे।'' मैंने सुना क्या बोल रहे हैं भजनकार? भैय्या यह तो बहुत गड़बड़ बात होगी कि जो भक्त तो नहीं बनेगा और भगवान् बनेगा। भगवान् तो बनना है लेकिन "भक्त बनकर भगवान् बनेंगे।'' ऐसा क्रम होना चाहिए। नहीं तो सारे के सारे लोग भक्ति छोड़कर भगवान् बनने बैठ जायेंगे तो मामला गड़बड़ हो जाएगा। प्रसंग को लेकर अर्थ को सही निकाला जाए तो कोई विसंवाद नहीं, किन्तु उसी पर अड़ जाये तो मामला ठीक नहीं। भक्ति के द्वारा जो केवलज्ञान माने, तो वह समयसार नहीं पढ़ रहा है और समयसार पढ़ते हुए यदि हम यह कहें कि "भक्ति से कुछ नहीं होता" तो भी समयसार नहीं पढ़ रहे हैं। आचार्य कुदकुन्देव कहते हैं कि–

मग्गप्पहावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोचिदेण मया।
भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंगहं सुत्तं।।

प्रवचन भक्ति के द्वारा प्रेरित हुई मेरी आत्मा ने इस प्रवचन (आगम) के साररूप पंचास्तिकाय संग्रह सूत्र को कहा। मार्ग की प्रभावना को दृष्टि में रखकर ऐसी भावना उद्भूत हुई। भक्ति से ओतप्रोत होकर के जिनवाणी का एक ऐसी सेवा करने का ऐसा भाव यदि भूमिका में नहीं होगा तो कौन-सी भूमिका में होगा? क्या सप्तम भूमि में होगा? नहीं होगा। करुणा से युक्त हृदय वाले ही भक्ति कर सकते हैं। यदि कुन्दकुन्दाचार्य की अरहन्त भक्ति-श्रुतभक्ति नहीं होती तो यह जिनवाणी भी हमारे सामने नहीं होती। आप भी तो बोलते हैं कि "तो किस भांति पदारथ पांति, कहाँ लहते रहते अविचारी" हां.....हां! जिनवाणी-भक्ति में क्या मार्मिक बात कही है, कि हमारा अस्तित्व कहाँ, यदि यह जिनवाणी न होती तो? किसी उर्दू शायर ने भी कहा है उसे भी याद में ला रहा हूँ। बहुत अच्छी बात कही! उनकी ये

दृष्टि हो या न हो, लेकिन मैंने तो इसका इस प्रकार अर्थ निकाला है

नाम लेता हूं तुम्हारा लोग मुझे जान जाते हैं।
मैं एक खोई हुई चीज हूं जिसका पता तुम हो।।

मेरा कोई "एड्रेस" नहीं, पता नहीं। अगर कुछ है तो तुम ही हो। तुम्हारी शरण छूट गयी तो हमारे लिये कोई शरण नहीं भगवान्।

"अन्यथा शरण नास्ति त्वमेव शरणं मम" अरहंते सरणं पव्वज्जामि। हे भगवान् (पंचपरमेष्ठी) आपके चरण कमलों की शरण को छोड़कर कौन सी मुझे शरण है? भगवान् की भक्ति करते हुए यदि हेयबुद्धि लाने का प्रयास करोगे तो बन्धुओ! ध्यान रक्खे "शुद्धोपयोग की भूमिका आपको नहीं मिलेगी और अशुभोपयोग की भूमिका छूटेगी नहीं।" भक्ति शुभोपयोग में हुआ करती है। लेकिन शुभोपयोग के द्वारा केवल बन्ध होता है, ऐसा नहीं है, शुभोपयोग के द्वारा संवर-निर्जरा भी होती है। सर्वप्रथम प्रवचनसार में आत्मख्याति लिखते हुए अमृतचन्द्राचार्य ने गाथा की टीका में लिखा है कि–

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएवपरं लहदि सोक्खं।।

यह प्रशस्तभूत जो श्रावकों की अरहन्त-भक्ति, दान और पूजादि रूप प्रशस्तचर्या है। इसके द्वारा "क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः" ये शब्द अमृतचन्दाचार्य के हैं। जयसेनाचार्य जी ने इसका और खुलासा किया है। सर्वप्रथम इन अध्यात्म ग्रन्थों में क्रमतः शब्द का प्रयोग किया है तो अमृतचन्द्रचार्य जी ने ही। जो व्यक्ति (अमृतचन्द्रचार्य) क्रमतः अर्थात् परम्परा से परम निर्वाण के सुख को प्राप्त करने के लिए सरागचर्या और अरहन्त भक्ति को कारण मानते हैं तो उसके लिए "एकान्त से संसार का ही कारण मानना ऐसा कह देना, आचार्य अमृतचन्द्राचार्य को दुनिया से अपरिचित कराना है।"

शुद्धोपयोग के साथ कुछ भी आस्रव नहीं होता, बिल्कुल ठीक है। परन्तु शुभोपयोग के द्वारा केवल आस्रव ही होता है, ऐसा नहीं है। इसलिए तो अमृतचद्राचार्य जी ने ये शब्द लिये "क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः" और कुन्दकुन्द भगवान् क्या कहते हैं? "ताएव परं लहदि सोक्खं" अर्थात् उसी सरागचर्या के द्वारा क्रमशः निर्वाण की प्राप्ति होती है। यहाँ पर यदि मुनि कहे कि हम भी ऐसा ही करें, तो आचार्य कहते हैं कि बावला कहीं का। तुम्हारी शोभा इसमें नहीं आती, तुम्हारी तो भूमिका शुद्धोपयोग की है। शान्ति से बैठ जा, और आत्मा का ध्यान कर ले! तुम्हें क्रमशः नहीं "साक्षात्" की भूमिका है। लेकिन वर्तमान में बन्धुओ! इस विवक्षा को नहीं

समझोगे तो उस भक्ति को भी खो दोगे और उधर भी कुछ नहीं मिलेगा, तब कहाँ रहोगे? इस सब अवस्था को देखकर भगवान् कुन्दकुन्द को कितना दु:ख होगा, अमृतचन्द्राचार्य को कितना दु:ख होगा? उन्होंने प्रयास किया लिखने में, टीका करने में और हम अर्थ निकालने वाले ऐसा अर्थ निकाल रहे हैं? बेचारी इस भोली-भाली जनता का क्या होगा? इसलिए आचार्यों ने टीका के ऊपर टीकाएं, कुंजी, नोट्स ये वो सब कुछ लिखे हैं। लेकिन टीका की कीमत, कुंजी की कीमत, तब तक ही है जब तक मूल है, ताला है। मूल नहीं तो टीका, कुंजी का बड़ा-सा गुच्छा अपने पास रखे ले तो भी कुछ (कोई भी) कीमत नहीं।

आज किताब का तो अध्ययन कोई करता नहीं और कुंजियों के द्वारा पास होने वाले विद्यार्थी बहुत हैं। उन विद्यार्थियों को देखकर ऐसा लगता है कि जब ताला नहीं मिलेगा तो कुंजी का प्रयोग कहाँ करेंगे ये लोग? उस कुंजी की कीमत तब है जब मूल किताब में कहाँ पर क्या लिखा है, उसको देखने में "की" लगा दो तो ठीक है, लेकिन जब नवम्बर और अप्रैल आ जाता है उस समय कालेज के भी विद्यार्थी पढ़ाई प्रारम्भ करते हैं तो पास कैसे होंगे? "की" पढ़कर ही जैसे भी हो वैसे पास हो जाये, बस यही सोचते हैं। कदाचित् वे पास हो भी जाएं, लेकिन यहां पर ऐसा नहीं चलेगा भैय्या! यहां पर पूरा का पूरा प्रयास करने की आवश्यकता है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने अरहन्त-भक्ति में तो विशेष रूप से कमाल किया है, वे कहते हैं–

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ! विवान्तवैरे।
तथापि ते पुष्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरितांजनेभ्यः॥

हे भगवन्! हम आपकी भक्ति कर रहे हैं, स्तुति कर रहे हैं और आपको स्मरण कर रहे हैं, इससे आपको कोई भी प्रयोजन नहीं है, क्योंकि आप तो वीतरागी हैं। हे भगवन्! कोई भी आकर, आपकी निन्दा करे, तो भी आपको कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि आप वीतद्वेषी हैं। आपके चरणों में भक्ति कर रहा हूँ मैं, इससे आपको तो कोई लाभ-प्रयोजन नहीं किन्तु मेरा ही मतलब सिद्ध हो जाता है, कारण कि अभी तक बिगड़ा रहा, अब आज आपकी भक्ति के माध्यम से सुधर जाऊंगा, इसके लिए आप मना भी नहीं करते हैं। उन्होंने पांच कारिकाओं के द्वारा वासुपूज्य भगवान् की स्तुति करते हुए मात्र पूजा का ही वर्णन किया है। वे कहते हैं कि–

पूज्यं जिनं त्वार्चयतो जनस्य, सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ।
दोषाय नालं कणिकाविषस्य, न दूषिका शीतशिवाम्बुराशौ॥

हे भगवन् आपकी स्तुति, पूजापाठ आदि करते-करते कोई श्रावक दोष का भागीदार नहीं होगा; सावद्य पूजन होने पर भी। क्योंकि पूजन के द्वारा इतना फल मिलता है, कर्मों की निर्जरा होती है कि क्या बताऊं? और उसके साथ-साथ यदि कुछ कर्मों का बन्ध भी हो रहा हो तो वह उसके लिए बाधक नहीं होगा। दोष के लिए सिद्ध नहीं होगा। क्या उदाहरण दिया है? समुद्र है, वह भी अमृत का, उसमें यदि विष की एक कणिका डाली जाय तो वह समुद्र को किसी भी प्रकार से विकृत नहीं बना सकती। मैं पूछना चाहता हूँ कि बड़ी-बडी सिटियों से लोग आये होंगे यहाँ पर। वहाँ पर आप सबकी दुकानें तो होंगी, भले ही घर की न हो, किराये से ले रखी हो। माल तो आपका ही होता है, मकान आपका नहीं लेकिन आप चाहते होंगे कि दुकान चकराघाट पर या तीनबत्ती पर खुल जाए। ताकि हमारी दुकान चौबीसों घण्टों चलती रहे, ग्राहकों का तांता लगा ही रहे। लेकिन मैं पूछना चाहता हूँ कि वहाँ पर दुकान मिलेगी कैसे? जो मांगे वह देने को तैयार है, हम दस लाख की पगड़ी देने को तैयार हैं, लेकिन मिल तो जाय कम से कम। मानलो मिल गई और धड़ाधड़ चलने भी लगी, मालामाल हो गये। तो मालूम है किराया लेने वाला (मालिक) क्या कहता है कि आपको किराया और बढ़ाना होगा? तब आप कहते हैं–बढ़ाओ कोई बात नहीं, ले लो और ले लो, एक माह हुआ नहीं कि 29 तारीख के दिन ही निकाल करके रख देते हैं। आया नहीं कि दे दिया। क्योंकि गड़बड़ की तो दुकान खाली करनी पड़ेगी, तब तो मुश्किल हो जाएगी। इसलिए सब कुछ देने को तैयार हो जाते हैं। दुकान अच्छी चल रही है। अपनी गांठ का देना होता तो थोड़े ही निकालते। जो आ रहा है। उसी में से थोड़ा सा दे दिया। ये स्थिति होती है जिसकी निजी दुकान नहीं है, उसकी यह बात है, तब तो जिसकी दुकान भी घर की है, जिसको कुछ भी, एक पाई भी न देना पड़े, खुद का घर, खुद की दुकान, नौकर भी नहीं, सब कुछ स्वयं करते हैं तो मालामाल हो जायेंगे। देने की आवश्यकता ही नहीं, मात्र लेना ही लेना है।

इसी प्रकार अरहन्त-भक्ति में, पूजा में लाभ ही लाभ है। अत: भक्ति आदि धार्मिक कार्य "हेयबुद्धि" से नहीं किये जाते किन्तु आचार्यों ने कहा

है "परमभक्तया एव अरहन्तभक्ति कुरु" परम भक्ति के द्वारा अरहन्त भक्ति करो किन्तु उस भक्ति के द्वारा जो भी पुण्यबन्ध होता है, उस पुण्यबन्ध के उदय का जब फल मिलेगा तब उसमें आकांक्षा–रागद्वेष–हर्षविषाद नहीं करना। पं. दौलतराम जी कहते हैं कि–

पाप पुण्य फल मांहि हरख विलखो मत भाई।
यह पुद्गल परजाय उपज विनसे थिर नाई।।

क्या कहते हैं वे? पुण्य और पाप के फल काल में न तो हर्ष होना चाहिये, न ही विषाद। किन्तु संसारी प्राणी का बिना इसके (हर्षविषाद के) चल नहीं सकता। फल के लिए जो व्यक्ति पुण्य करता है। उसका वह पुण्य पापानुबन्धी पुण्य है और जो व्यक्ति अरहन्त भक्ति, संवर और निर्जरा के निमित्त करता है, कर्मक्षय के लिए करता है, वही सार्थक है।

शुद्धोपयोग की भूमिका नहीं है, तब क्या करूं? तो आचार्य कहते हैं कि चिन्ता मत कर बेटा! मैं कह रहा हूँ, रास्ता यही है तेरे लिए "क्रमत: परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्य:"। इस भव में नहीं तो ना सही, किन्तु मिलेगा तो परम आह्लाद की प्राप्ति होगी नियम से। सभी को आह्लाद पहुँचाने का प्रयास करो, जिससे व्यक्ति अरहन्त भक्ति करने लग जायेगा ऐसा प्रवचन दीजिये, ऐसा नहीं कि "भुक्ति की भक्ति" शुरू कर दे। "अर्हन्त भक्त" बनेगा तो नियम से वह मुनि बनेगा और अपनी आत्मा में स्वस्थ होगा। यह सब यदि करना चाहते हो तो नियम से अच्छे ढंग से अरहन्त भक्ति करना चाहिए।

अरहन्त भक्ति करते-करते प्राण निकल जाये, ऐसा आचार्य समन्तभद्र और कुन्दकुन्द भगवान् का कहना है। सल्लेखना के समय पर जिस व्यक्ति के मुख से अरहन्त भगवान् का नाम निकलता है, वह बहुत ही भाग्यशाली है। जिसके मुख से "अरहन्त" नाम भी नहीं निकलता है, उसका तो कर्म ही फूट गया, खोटा है। महान् बड़भागी होते हैं वे, जो जीवन पर्यन्त उपाध्याय परमेष्ठी का काम करते हैं और अन्त में भी "णमोकारमन्त्र" दूसरों को सुनाते जाते हैं, बहुत भाग्य की बात है। "अरहन्त-सिद्ध" मुख से नहीं निकलता, किन्तु कहते हैं–"हाय रे! जल लाओ, भीतर तो सभी कुछ जला जा रहा है"। जीवन भर समयसार भी पढ़ लो, गोम्मटसार भी रट लो, प्रवचनसार के प्रवचन भी कर लो, लेकिन जब अन्तसमय प्राणपखेरू उड़ने लग जाते हैं तो "अरहन्त" कहते नहीं पाये जाते, ऐसे भी कई उदाहरण आगम में दिये गये हैं। 48 मुनियों को वैय्यावृत्ति में लगाया जाता है और

बार-बार कहा जाता है कि "आपके माध्यम से हमें मार्ग मिला है" और आप कह रहे हैं कि जल लाओ, भोजन लाओ। रात तो देखो, अपनी अवस्था को भी देखो, आप किस अवस्था में हैं और यह क्या कह रहे हैं। पूर्व की याद करो! नरकों की याद करो, जहाँ–

सिन्धु नीर तें प्यास न जाए, तो पण एक न बूंद लहाय।

यह प्यास, भूख तो अनन्तकाल से साथ दे रही है। अब तो केवली भगवान् की बात सुनिए–घबड़ाओ नहीं, अरहन्त-भक्ति को याद रखो, आज भी नियमपूर्वक विधिपूर्वक सल्लेखना करने वाला जघन्य से 3 भव और उत्कृष्ट से 7-8 भव में मोक्ष जाता है।

पं. दौलतराम जी कहते हैं कि यदि तू मुनि नहीं बन सकता तो कम से कम श्रावक के व्रत तो पालन कर/धारण कर। दो ही धर्मों का व्याख्यान शास्त्रों में आता है-एक अनगार, दूसरा सागार। तीसरा कोई धर्म नहीं है। आप कहीं भी चले जायें, दो ही धर्म मिलेंगे, दोनों में चलने को कहा है। एक बात और कहना चाहूँगा कि अमृतचन्द्राचार्य जी ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय में कहा है आप लोग बहुत पढ़ते हैं उसको, जब भी उपदेश देओ तो "सर्वप्रथम मुनि बनने को उपदेश देना, बाद में श्रावक धर्म का" क्योंकि सामने वाला यदि मुनि बनने की इच्छा से आया है और आप उसे गृहस्थाश्रम के योग्य धर्म का उपदेश देंगे तो दण्ड के पात्र होंगे। केवल एक धर्म का कभी भी वर्णन नहीं होना चाहिये। मात्र सम्यग्दर्शन कोई धर्म नहीं है किन्तु सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, तीनों मिलाने पर ही धर्म बनते हैं, ऐसा आचार्यों का कहना है।

बन्धुओ! या तो श्रावक बनो या मुनि बनो, तीसरा कोई उपाय नहीं है। यदि धर्म का पालन नही कर सकते तो, भाव तो रक्खो मन में कम से कम। इस प्रकार की भावना होना भी महादुर्लभ है।

कृष्णजी के सामने समस्या आ गई। वे कह देते हैं-प्रद्युम्न आदि सब लोगों को कि चले जाओ, सबकी हमारी तरफ से छुट्टी है मुनि बनने की, दीक्षा लेने की। बेटे ने कहा–आप भी चलेंगे पिताजी। मेरी भावना नहीं हो रही है। क्यों नहीं हो रही है पिताजी? कितने मार्के की बात है देखो, "सिद्धान्त कहता है कि जिस जीव को मनुष्यायु, तिर्यंचायु या नरकायु का बन्ध हो चुका है उसको कभी भी संयम लेने की भावना तक नहीं होती। लेकिन वह सम्यग्दृष्टि है तो दूसरे को दीक्षा लेने में कभी व्यवधान नहीं डालेगा।" जो व्यक्ति शिक्षा-दीक्षा का निषेध करता है, वह व्यक्ति नियम से संयम के

प्रतिपक्षी होने के कारण मिथ्यादृष्टि है। बन्धुओ! यह ध्यान रक्खो, खुद मोक्षमार्ग पर नहीं चल सकते तो कोई बात नहीं किन्तु तुम चलो बेटा, तुम चलो बेटा, तुम चले जाओ। हम बाद में आ जायेंगे, जब कभी हमारी शक्ति आ जायेगी तब, ऐसा प्रोत्साहन तो देता है। "मैं नहीं चल रहा हूँ इसलिए तुम कैसे आगे पहुँच सकते हो" इस घमण्ड से दूसरों के मार्ग में बाधक का कार्य नहीं करो, "आज मोक्षमार्ग पर कोई नहीं बढ़ सकता", ऐसा भी कभी मत कहना, क्योंकि नियमसार की एक गाथा है आचार्य कुन्दकुन्ददेव की–"अनेक प्रकार के भाव होते हैं, अनेक प्रकार के कर्म होते हैं, अनेक प्रकार की उपलब्धियां होती हैं। इसलिए आपस में इस प्रकार का संघर्ष, कषाय करके "स्व" और "पर" के लिए कभी भी ऐसे बीज मत बोओ, जिसके द्वारा विषफल खाना पड़े। और नरक-निगोद आदि गतियों में जाना पड़े।

दिव्यध्वनि में भगवान् ने दो ही धर्मों का वर्णन किया है और सम्यग्दर्शन के साथ दोनों धर्म हुआ करते हैं। इनमें से एक परम्परा से मुक्ति का कारण है और एक साक्षात्। मुनिधर्म साक्षात् मुक्ति का कारण है और श्रावकधर्म परम्परा से, परन्तु आज तो दोनों ही धर्म परम्परा से हैं क्योंकि आज साक्षात् केवलज्ञान नहीं होगा। इसलिए इस सत्य को, इस तथ्य को सही-सही समझकर के अपने मार्ग को आगे तक प्रशस्त करने का ध्यान रखिये। क्योंकि–

ज्ञान ही दुःख का मूल है, ज्ञान ही भव का कूल।
राग सहित प्रतिकूल है, राग रहित अनुकूल।।
चुन-चुन इनमें उचित को, मत चुन अनुचित भूल।
सब शास्त्रों का सार है, समता बिन सब धूल।।

९

अभी-अभी बोलियां हो रही थीं। मैं सोच रहा था कि बोली लेने वाले यह जानते हैं और करने वाले भी जानते हैं कि पैसा अपने से बिल्कुल भिन्न है। तब भी मुझे समझ में यह नहीं आ रहा था कि 2-2, 3-3 बार बोलने के उपरान्त जैसे क्रेन के द्वारा कोई बड़ी वस्तु उठती है, धीरे-धीरे, ऐसी ही बोलियां उठ रही थीं, ऐसा क्यों? जबकि धन भिन्न पदार्थ है। उसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं, फिर भी ऐसा लग रहा था कि जैसे गोंद से आपका और उन नोटों का गठबंधन हो गया है। नोट ट्रेजरी में हैं और आप यहाँ आकर बैठे हैं, फिर भी नहीं निकल रहे हैं। बोली लेने वालों के तो नहीं निकल रहे हैं क्योंकि उन्हें मोह है, लेकिन यहाँ जो बोली करा रहे थे, वह

भी दो के साथ-साथ ढाई बोल रहे थे यानि उनका भी मोह और बढ़ रहा था।

आज मोह को छोड़कर ही शरीरातीत अवस्था प्राप्त हुई। कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है आत्मा के साथ, देख लीजिए। आज द्रव्य-कर्म से, भावकर्म से और नोकर्म से, इन तीन कर्मों से अतीत होकर के उस आत्मा का जन्म हुआ है। सिद्धपरमेष्ठी की ही सही, जन्म-जयन्ती है आज के दिन। अनन्तकाल के लिए यह जन्म, ज्यों का त्यों रहेगा। अनन्तकाल के लिए मरण का मरण हो चुका अब। ऐसा उत्पाद हुआ, और ऐसा आनन्द हुआ कि कहना संभव नहीं। यह तो ऋषभनाथ ही जान सकते हैं। हम नहीं जान सकते।

आज इस बात को देखने (निर्वाणकल्याण) में इतना आनन्द आता है जितना कि अन्य में नहीं आता। निर्वाण कल्याणक में मुझे विशेष ही आनन्द आता है। हालांकि दीक्षाकल्याणक, केवलज्ञानकल्याणक भी कल्याणक हैं, लेकिन निर्वाण कल्याणक को देख अपूर्व ही आनन्द उमड़ता है। कल तक तो समवसरण की रचना थी, अब समवसरण बिखर गया। ऋषभनाथ भगवान का समवसरण लगभग 29 दिन पहले ही बिखर गया, मुक्ति पाने से पहले। यानि 29 दिन तक समवसरण के बिना रहे थे। समवसरण में विराजमान होते हैं तो अर्हन्त परमेष्ठी माने जाते हैं। छत्र, चंवर, सिंहासन और कमल के चार अंगुल ऊपर अधर में बैठे रहते हैं। अर्हन्त परमेष्ठी एक प्रतिमा जैसे हो जाते हैं। समवसरण में जब तक विराजमान रहेंगे तो उन्हें केवलज्ञान तो भले ही रहा आवे, लेकिन मुक्ति तीनकाल में मिलने वाली नहीं। किसी को भी आज तक कुर्सी पर बैठे-बैठे, किसी संस्था के संचालक को मुक्ति नहीं मिली। केवलज्ञान होने में तथा मुक्ति में उतना ही अन्तर है, जितना कि 15 अगस्त और 26 जनवरी में। केवलज्ञान हुआ, यह स्वतन्त्रता दिवस है और मुक्ति गणतन्त्र दिवस। यह बिल्कुल नियम है कि स्वतन्त्रता के लिए पहले बात होती है, और कह दिया जाता है कि तुम्हें स्वतन्त्रता मिलेगी-दी जाएगी। लेकिन सत्ता जो है, यह गणतन्त्र दिवस के दिन आती है। आज भगवान को अपनी निजी सत्ता हाथ लगी, जो कि पर के हाथ चली गई थी, उसके लिए उन्होंने बहुत कोशिश की, अनशन भी प्रारम्भ किये, तब कहीं जाकर के सत्ता मिली है। आप सोचते हैं सत्ता को ले लेना आसान है, लेकिन नहीं, दूसरों की सत्ता पर अधिकार नहीं करना है। अपनी सत्ता को प्राप्त करने के लिये आचार्यों ने कहा है कि अन्तर्मुहूर्त पर्याप्त है, पर यह सब व्यायाम

करना आवश्यक है तभी जो ग्रन्थियां हैं, छूट सकेगीं, जो कि आपकी नहीं हैं। उसी साधना में कठिनाई है। इसलिए साधु की यह विशेषता होती है कि वह केवल आत्मसाधना करता है। वही साधु हुआ करता है। कुछ इससे आगे के होते हैं जो अपनी साधना को करते हुए भी दूसरों को उपदेश दे देते हैं वे उपाध्याय परमेष्ठी कहलाते हैं। यदि कोई उपदेश ग्रहण कर मार्ग को, पंथ को अपनाना चाहता है तो उसे शिक्षा-दीक्षा देकर के पथ के ऊपर आरूढ़ करा देते हैं। "चरति आचारयति वा इति आचार्य:"। वह आचार्य परमेष्ठी कहलाते हैं। और "मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये-।। अरहन्त परमेष्ठी वे माने जाते हैं जो कि हितोपदेशी होते हैं, सर्वज्ञ होते हैं, मोक्षमार्ग के नेता होते हैं।

अरहन्तों में तीर्थकर भी होते हैं जो कि सिद्ध परमेष्ठी को 'नमोऽस्तु' करते हैं। ऐसा क्यों? सभी के आराध्य देवता तो सिद्ध ही हुआ करते हैं। शेष सारे के सारे आराधक हैं, अरहन्त परमेष्ठी को मुनि माना जाता है। सिद्ध परमेष्ठी मुनियों की कोटि में नहीं आते। वे तो मुनियों से पूज्य हैं, शाश्वत सत्य हैं। अर्हन्त परमेष्ठी को भी साधु-जीवन की उपासना करनी पड़ती है। तब यह पद लिया ही क्यों उन्होंने? पूर्व जीवन में उन्होंने भावना भायी थी कि "क्षेमं सर्वप्रजानां"। दर्शनविशुद्धि आदि षोडशभावनाएं, जिनमें सबका कल्याण हो, संसार में तिलतुष मात्र भी सुख नहीं, सभी को सही-सही दिशा बोध मिले, इन्हीं का तो फल है। प्रत्येक सम्यग्दृष्टि को भी ऐसी भावना नहीं हुआ करती, यदि होने लग जाए तो सभी को तीर्थकर पद के साथ मुक्ति मिले। पर ऐसा असम्भव है। असंख्यातों में एक-आध ही सम्यग्दृष्टि ऐसी भावना वाले होते हैं।

अरहन्त परमेष्ठी की अवस्था कोई भगवद अवस्था नहीं है। उन्हें उपचार से भगवान् कह देते हैं। उनके चार घातियां कर्मों के नाश हो जाने पर, अब जन्म से छुट्टी मिल गई, इसी अपेक्षा से या उपचार से कह देते हैं। दूसरी बात और कहूँ-उनको (अरहन्त) मुक्ति कब मिलती है? अरहन्त परमेष्ठी को मुक्ति तीनकाल में नहीं मिल सकती। आचार्य परमेष्ठी को भी नहीं मिल सकती, उपाध्याय परमेष्ठी को भी नहीं मिल सकती। मुक्ति के पात्र साधु परमेष्ठी हैं। मोक्षमार्ग के नेतृत्व को अपनाये रहेंगे जब तक, तब तक मुक्ति नहीं। उनके समवसरण में बैठे-बैठे कोई उपदेश सुनकर के भावलिंगी मुनि को मुक्ति हो सकती है, पर समवसरण के संचालक (तीर्थकर) को मुक्ति

नहीं होती। कितनी बड़ी बात है। हम लोग कम से कम कुर्सी का तो मोह छोड़ दें, कुर्सी मिल भी नहीं रही है सबको। लेकिन सभी झगड़ा करते हैं कुर्सी के लिए, मात्र उस मोह के कारण। चुनाव भी लड़ते है। आज तो तीर्थकर प्रभु की भी कुर्सी (सिंहासन) छूट गयी। तीन लोक में कहीं भी ऐसी सम्पदा नहीं मिलती हैं। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर के द्वारा समवसरण की रचना होती है, सारे भण्डार को खाली करके। समवसरण की रचना केवलज्ञान उत्पन्न होने के उपरान्त क्यों हुई? सारी की सारी सम्पदा पहले भी कुबेर के भण्डार में थी, वह अपने लिए अथवा इन्द्र के लिए समवसरण की रचना क्यों नहीं कर सकता? नहीं! यह तो मात्र तीर्थकर प्रकृति के उत्कृष्ट पुण्य का विपाक है, उन्हीं के लिए यह सब कुछ सम्पदा मिलती है।

आचार्य परमेष्ठी भी जब तक आचार्य परमेष्ठी बने रहेंगे तब तक श्रेणी में आरोहण नहीं हो सकता। उपाध्याय परमेष्ठी को भी श्रेणी नहीं मिलेगी। और यहाँ तक कि तीर्थकर को भी, जब तक अर्हन्त परमेष्ठी के रूप में रहेंगे तब तक मुक्ति नहीं। सब कुछ यहाँ पर छोड़ना पड़ता है। सारा का सारा ठाट-बाट यहीं पर धरा रह जायेगा। आठ कर्मों को भी यहीं छोड़ जायेंगे और जाकर ऊर्ध्वलोक में विराजमान हो जाएंगे, अनन्तकाल के लिये।

इससे सिद्ध हो गया कि साधु की साधना छठवें गुणस्थान से प्रारम्भ होकर चौदहवें गुणस्थान तक चलती है। आप लोगों के यहाँ भी चौदह कक्षायें होती हैं। उनमें एक स्नातक और एक स्नातकोत्तर। ये चौदह गुणस्थान संसारी जीव की चौदह कक्षाएं हैं। एक-एक गुणस्थान चढ़ते-चढ़ते अर्हन्त परमेष्ठी स्नातक हुए हैं और तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश हुआ और वहाँ पर अन्तर्मुहूर्त रह करके स्नातकोत्तर हुए। ज्यों ही स्नातकोत्तर हुए तो निरुपाधि अवस्था ही उपलब्धि हो गई उन्हें। जब तक कक्षाएं शेष रहती हैं तब तक छात्र ही माना जाता है। इसी प्रकार चौदहवें गुणस्थान तक तो सभी मुनि महाराज माने जाते हैं। किन्तु चौदहवें गुणस्थान के ऊपर चले जाते हैं तो वे नियम से सिद्ध परमेष्ठी होते हैं, शाश्वत सिद्धि प्राप्त हो जाती है उन्हें। धन्य है यह दिन, इस प्रकार से आत्मा का विकास करते-करते अन्त में उन्हें इस पद की उपलब्धि हुई जो कि आत्मोपलब्धि कही जाती है। उन्होंने अपना कुछ भी नहीं छोड़ा। जो पराया था वह सारा का सारा यहीं पर रह गया। जो निजी था वह शाश्वत सत्य बन गया। एक उदाहरण देता हूँ कि अरहन्त और सिद्ध परमेष्ठी में कितना अन्तर है।

दूध है और घृत है। दोनों एक दूध में विद्यमान रहते हैं। पर जब आप दूध पीते हैं तब घृत का स्वाद नहीं आता आपको। घी, दूध में ही है परन्तु घी का स्वाद नहीं आता। घी का स्वाद अलग है और दूध का अलग। इसी तरह दूध की गन्ध और घी की गन्ध की बात है। दूध की गन्ध दूर से नहीं आती जबकि घी की महक तो कहीं रखो अर्थात् दूर से भी आती है। दूसरी, बात दूध के द्वारा अर्थात् दूध से भरे बर्तन में आप अपनी मुखाकृति को नहीं देख सकते जबकि घी में आपकी मुखाकृति स्पष्ट दिखाई दे जाएगी। दूध में कभी भी मुख नहीं झलकेगा। यह बात अलग है कि मुख का मात्र बाहरी आकार ही दिखे। यदि दूध में आपका अवतरण नहीं हो सकता। तीसरी बात, दूध हमेशा कच्चा होता है अर्थात् कभी पर्यायान्तर (दही, तक्र) को प्राप्त हो जाता है, लेकिन घी में अवस्थानन्तर अब संभव नहीं, क्योंकि वह पूर्ण शुद्ध हो गया है। चौथी बात, दूध से कभी भी प्रकाश नहीं किया जा सकता अर्थात् दीपक में भरने पर प्रकाश नहीं देता जबकि घी सदा ही प्रकाश देता है जब आप चाहे। इसीलिए घी से आरती भी उतारी जाती है, दूध से नही। पांचवी बात, दूध में देखें तो उसकी पूर्णता (गहराई) नजर नहीं आती, जबकि घी में देखने पर उसकी सतह तक स्पष्ट दिखाई देता है। उससे पता चल जाता है कि कितना घी है। ऐसा ही अन्तर सिद्ध और अर्हन्त में होता है। क्योंकि सिद्ध परमेष्ठी शुद्धतत्व रूप से परिणमन करने लगे। एक कांच होता है और एक दर्पण। दोनों में जितना अन्तर है, उतना ही सिद्ध और अर्हन्त में है। सिद्ध परमेष्ठी कांच होते हैं, अर्हन्त परमेष्ठी दर्पण। कांच तो शुद्ध साफ होने से जो कुछ भी आर-पार है, स्पष्ट दिखा देता है परन्तु दर्पण हमारी दृष्टि को पकड़ लेता है, हम उस पार नहीं देख सकते दर्पण से।

इतना सब होने पर भी "णमो अरहंताण" ऐसा क्यों बोला जाता है पहले? कारण यही है कि सिद्ध परमेष्ठी हमें दिखते नहीं और अर्हन्त परमेष्ठी हमें दिखते हैं, उपदेश देते हैं। सिद्ध प्रभु हितोपदेशी नहीं। सर्वज्ञ तो हैं, कर्मों से मुक्ति भी है पर हितोपदेशी नहीं। हम तो स्वार्थी हैं। जिसके द्वारा हमारा काम निकले उन्हीं को हम पहले याद कर लेते हैं। अर्हन्त परमेष्ठी के द्वारा हमें स्वरूप का उद्‌बोधन मिलता है, एक प्रकार से नेतृत्व भी करते हैं और चल भी रहे हैं। इसलिए अर्हन्त परमेष्ठी को इन मूर्त आंखों से देख सकते है। सर्वज्ञत्व को हम देख नहीं सकते, वह भीतरी भाव है। हम भगवान् के दर्शन करते हैं, लेकिन उनके अनन्तगुणों में से एक के अलावा शेष गुणों को देख नहीं सकते है। मात्र वीतरागता वह गुण है जो दिखे बिना रह भी

नहीं सकता। वीतरागता हमारी आंखों में आ जाती है। भगवान् को देखने से उनके कोई भी ज्ञान का पता नहीं चलता कि उनके पास केवलज्ञान है कि नहीं अथवा श्रुतज्ञान या मतिज्ञान। कुछ भी नजर नहीं आता, मात्र नासादृष्टि में बैठे वीतरागमुद्रा के। केवलज्ञान हमारी दृष्टि का विषय भी नहीं बन सकता, वह मात्र श्रद्धान का विषय है। लेकिन मुद्रा देखने से ज्ञान हो जाता है कि हमारे प्रभु कैसे हैं? हमारे प्रभु वीतरागी है। वीतरागता आत्मा का स्वभावभूत गुण है। वीतरागता के बिना हमारा कल्याण नहीं हो सकता। इसलिए सम्यग्दृष्टि की दृष्टि में केवलज्ञान नहीं झकलता, सर्वज्ञत्व नहीं झलकता, किन्तु मिथ्या दृष्टि की दृष्टि में भी भगवान् की वीतरागता झलकती है। इसीलिए वह भी बिना विरोध के वीतराग के चरणों में नतमस्तक हो जाता है। यदि अरहन्त भगवान हमारे लिए पूज्य हैं तो वीतरागता की अपेक्षा से ही। पूरा का पूरा संसार आकर उनकी पूजा करता है। कौन से भगवान सही हैं? तो हर कोई कहेगा—जो रागी है, वह सही नहीं, जो द्वेषी है वह भी नहीं, जो परिग्रही है वह भी नहीं। लेकिन जो वीतराग होकर बैठे है, इनके पास कितना ज्ञान है, इससे किसी को कोई मतलब नही। वीतरागता जहाँ कहीं नहीं मिल सकती है। इसलिए धन्य है वह घड़ी आदिनाथ के लिए, जब उन्होंने अपने आपको इस संसार से पार कर लिया तथा हमारे लिये एक आदर्श प्रस्तुत किया। युग-युग व्यतीत हो गये, इस प्रकार का कार्यक्रम किये। यद्यपि संसार अनादिकाल से चल रहा है तो सिद्ध होने का क्रम भी अनादि ही है, फिर भी हम लोगों का नम्बर सिद्धों में नहीं आ पाया। अतः हमें अब इसके लिये पुरुषार्थ करना होगा। एक ही पुरुषार्थ है, मोक्ष पुरुषार्थ जो आज तक नहीं किया।

जानने के लिये तो तीन लोक हैं, परन्तु छद्‌मस्थ के ज्ञान से यह कार्य नहीं बनने वाला। छोड़ने को मात्र-राग, द्वेष और मोह, ये तीन हैं। इन राग, द्वेष और मोह को छोड़े बिना हमारा ज्ञान सही नहीं कहलायेगा। इसलिए संघर्ष करो, और जो कुछ भी करना पड़े करो, मात्र राग-द्वेष-मोह छोड़ने के लिये। जिसने संघर्ष किया, वह अपनी आत्मसत्ता को लेकर के बैठ गया। उसका साम्राज्य चल गया। आज तक जो नौकर था, वह सेठ बन गया। जो सेठ था वह नौकर की चाकरी कर रहा है, गुलामी कर रहा है। इस शरीर के पीछे क्या-क्या अनर्थ करना पड़ता है इस आत्मा को। कैसे-कैसे परिणाम करता रहता है। आप्तपरीक्षा में विद्यानन्द जी महाराज ने लिखा है कि—

ततो नेशस्य देहोऽस्ति प्रोक्तदोषानुषङ् गगः।
नापि धर्मविशेषोऽस्य देहाभावे विरोधतः।।

उन्होंने इसको (शरीर को) जेल बताया है। इसीलिये कल तक भगवान् को अनन्तसुख था लेकिन अव्याबाध नहीं था। कुछ लोग पूछते हैं मुझसे–महाराजः अनन्तसुख और अव्याबाधसुख में क्या अन्तर है? बहुत अन्तर है। मैं कहता हूँ–जैसे जेल में किसी को कह दिया "कल तुझे जेल से छुटकारा मिल जाएगा।" अभी नहीं मिला है। जब तक जेल से बाहर नहीं जायेगा तब तक वस्तुतः सुख नहीं है। सुखानुभव के लिये तो जेल से बाहर आना होगा। जिस प्रकार जेल से बाहर आते समय, जेल का जो ड्रेस होता है, एड्रेस होता है, सबका सब उतार दिया जाता है। उसी प्रकार यह संसार का ड्रेस है, इसको छोड़ने पर ही सही सुख, अव्याबाध-सुख मिलता है। यही अन्तर है अनन्तसुख और अव्याबाधसुख में। लेकिन हम हैं कि एक ड्रेस के ऊपर और ड्रेस पहनते जा रहे हैं। और यूं सोचते हैं कि तुम्हारे पास तो ऐसा ड्रेस ही नहीं, ऐसा मुझे अभी तक मिला ही नहीं था। उन सबको छोड़कर आज ऋषभनाथ सिद्ध हो गये। और क्या-क्या छोड़ दिया उन्होंने? तीनों कर्मों को छोड़ दिया और साथ-साथ, "औपशमिकादिभव्यत्वानां च" औपशमिक भाव, क्षायोपशमिक भाव आदि भी छोड़ दिया। इतना ही नहीं, जो पारिणामिक भाव में भव्यत्व भाव था उसको भी छोड़ दिया। क्या मतलब है महाराज? मतलब समझाते हैं। जैसे–

आप स्टेशन पर चले गये। आपको देहली जाना है। रेल का टिकिट ले लिया, जितने पैसे मांगे उतने दे दिये। टिकिट लेकर रख लेते हैं। कहाँ रखते हैं! वहाँ रखते हैं महाराज! जहाँ गुम न हो सके। सब कुछ सामान गुम जाए संभव है लेकिन टिकिट गुम जाए तो क्या होगा? कम से कम दोनों कान पकड़ो और उठ्ठक-बैठक करो स्टेशन पर, (आजकल यह नहीं होता) तलाशी होगी, कहाँ से आये, क्यों आये, कहाँ जा रहे हो, ये सभी प्रश्न और उसके साथ सजा या जुर्माना। अतः अच्छे ढंग से रख लेते हैं। ज्यों ही स्टेशन आ गया, प्लेटफार्म आ गया। गाड़ी रुकी और उतर जाते हैं, उस समय वह टिकिट, टिकिट-चेकर के हाथ में थमा देते हैं और गेट के पार हो जाते हैं। टिकिट नहीं देते हैं तो बाहर नहीं जाने देगा। क्योंकि टिकिट यहीं तक के लिये था। बाहर चले जाने पर टिकिट का कोई काम नहीं। चेकर टिकिट को लेकर फाड़ देता है। वह जब फाड़ता है तब आप रोते नहीं, दुःखी नहीं होते। कारण, अब फाड़ो या अपने पास रखो, यह सभी कुछ तुम जानो। हम तो अपने स्थान पर आ गये।

इसी प्रकार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की अभिव्यक्ति का कारणभूत जो भव्यत्व परिणाम उत्पन्न हो गया था वह इनके साथ ही समाप्त हो गया, हो जाता है। जिस तरह टिकिट स्टेशन पर। चौदहवें गुणस्थान का बार्डर आते ही यह रत्नत्रय की टिकिट को कोई भी ले ले, क्योंकि संसार की अपेक्षा से है। मेरा ज्ञायक तत्त्व तो कोई भी ले नहीं सकता। ऐसे में एक समय में सात राजु पार करके फिर वहाँ लोक के शिखर पर जाकर विराजमान हो जाते हैं।

यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि ऊर्ध्वगमन आत्मा का स्वभाव है, जो स्वभाव होता है वह अमिट होता है, अनन्त होता है फिर वहीं तक जाकर क्यों रुक गये सिद्ध भगवान्? भगवान् कुन्दकुन्ददेव ने नियमसार में कहा है, धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण, लोक के शिखर पर जाकर के वे सिद्ध प्रभु विराजमान हो जाते हैं। उनकी मात्र वह सात राजु की योग्यता नहीं, किन्तु उनकी योग्यता तो अनन्त है, किन्तु धर्मास्तिकाय के अभाव के कारण आगे गमन नहीं होता।

इस प्रकार तो उन्होंने अपनी गति को प्राप्त कर लिया। अब आप भी फेरी के बाद अपनी-अपनी गति पकड़ेंगे। किसी की मोटर पर, किसी की मोटरसाइकल पर तो किसी की साइकल पर। आप पूंछ सकते हैं कि महाराज! आप भी तो गति करेंगे, कौन-सी और किस ओर करेंगे? भैय्या हमारी सदागति रहती है। कहीं टिकती ही नहीं। ना हमारे पास ड्रेस है और ना ही एड्रेस। भगवान का कहना है कि "ड्रेस रखोगे तो पकड़ में आ जाओगे। एड्रेस रखोगे तो पुलिस आ जायेगी। इसलिए बिना ड्रेस, एड्रेस के रहो"। इसलिए अनियत विहार करता हूँ, पता नहीं पड़ता। सदा गति तभी तो होती है। ऐसा होना भी आवश्यक है।

आप सभी ने पांच-छह दिनों में जो कुछ भी देखा, सुना, अध्ययन किया, मनन किया, भावना की वह वस्तुतः दुनियां में कहीं भी चले जायें, मिलने वाली नहीं। कई दुकानें मिलेंगी, लेकिन इस प्रकार की चर्या, यह दृश्य कहीं भी नहीं मिलेगा। यहाँ पर कोई कंडीशन (शर्त) नहीं है। "विदाउट कंडीशन" ही आत्मा का स्वभाव है। कंडीशन से ही दुःख का अनुभव हो रहा है। उस भव्यत्व की टिकिट को छोड़कर के भी उन्होंने मार्ग को पूरा कर लिया और मंजिल पर ली। धन्य है यह मोक्षमार्ग, धन्य है यह मोक्ष और धन्य हैं वे, जिन्होंने मोक्ष और मोक्षमार्ग का कथन किया। वह स्वरूप अनन्तकाल से चला आ रहा है, आज हमें भी उसका पाठ पढ़कर के अपने जीवन में उपलब्ध करने का प्रयास करना है।

१०

बन्धुओ!! जैसी भावना की थी, आज उससे भी बढ़कर के फल मिल गया है। ऐसी स्थिति में किसे अपार आनन्द की अनुभूति नहीं होगी? नियम से होगी। जब कोई एक छात्र 365 दिन अध्ययन करता है और अन्तिम चार-पांच दिनों में उत्तीर्ण हो जाता है, उस समय उसे खाने-पीने की चिन्ता नहीं रहती, किन्तु अपनी मित्र मण्डली को खूब मिठाई बांटने में लग जाता है। इसी में उसे आनन्द आता है। इसी प्रकार मुमुक्षु सम्यग्दृष्टि की बात है। जब कोई धार्मिक अनुष्ठान करता है तो उसके दिल में (हृदय में) आनन्द की ऐसी बाढ़ आती है। ऐसे महान् विषम पंचमकाल में भी इसी प्रकार का महान् सतयुग योग्य कार्य हो जाता है तो सहज ही आनन्द का अनुभव हो जाता है।

मैं आज आपके सामने यह बात कहना चाह रहा हूँ, जिसकी प्रायः करके जैनियों के यहां कमी रह गई, क्योंकि हम यदि पूरी की पूरी "शाबासी" दे दें तो आप लोगों की गति के रुकने की पूर्ण सम्भावना हो सकती है, लेकिन यह बात हो ही नहीं सकती। इसीलिए जैनियों को यह नहीं समझना चाहिए कि केवल हम जैनियों की सीमा तक ही धर्म का प्रचार-प्रसार करें। आज मैं लगभग बीस साल से दक्षिण से उत्तर की ओर आया हूँ। दक्षिण में प्रायः करके जो धार्मिक आयोजन होते हैं, उनमें निमन्त्रित जनता सभी आती है उसमें इसका भी पता नहीं चलता कि कौन जैन है और कौन अजैन।

आज यहां इस गजरथ महोत्सव में भी मात्र जैन ही नहीं आये हैं–सभी आये हैं। इस संदर्भ में जैनाचार्यों ने यह बात कही है कि जब कोई भी धार्मिक आयोजन सम्पन्न होता है तो यह ध्यान रखना कि सर्वप्रथम द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, सब की नियुक्ति होना अनिवार्य है। हम जड़रूप काल की तो प्रशंसा कर लेते हैं, जैसे अभी पण्डित जी ने कहा कि–"क्रमबद्धपर्याय काल के अनुसार हो जाए" इत्यादि। हम अचेतन की प्रशंसा नहीं सुनना चाहते हैं। जो चेतन जीव हैं, जिसके द्वारा हमें संयोग प्राप्त होता है, उसके संयोग को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता।

आचार्यों ने अपनी मांगलिक लेखनी के माध्यम से शास्त्रों की रचना करके लिखा है कि एक आचार्य परमेष्ठी अपने जीवन काल में तपस्या के माध्यम से, शिक्षा-दीक्षा के माध्यम से धर्म की जो प्रभावना करते हैं, उसका

छठवां भाग उस क्षेत्र के नेता (राजा) को प्राप्त हो जाता है। सुना आप लोगों ने। मैं यह कह रहा हूँ कि कोई भी धार्मिक अनुष्ठान करता है, धर्म कार्य करता है तो उस क्षेत्र के नेता को छठा भाग चला जाता है। उन लोगों का सहयोग यदि नहीं मिलेगा तो आज इस धर्म-निरपेक्ष देश में जो धार्मिक बातें मंच लगा करके कर रहे हैं, वह सब नहीं कर सकेंगे। क्योंकि देश के सामने विदेश का आक्रमण, विदेशी आक्रमण के लिए उन्हें क्या-क्या करना पड़ रहा है, मालूम है आपको? नहीं, जो व्यक्ति राजकीय सत्ता का अतिक्रमण करके कोई कार्य करता है तो वह अपनी तरफ से धार्मिक कार्य में बाधा उपस्थित करता है। शास्त्रों में आचार्यों के ऐसे कई उल्लेख हैं। इसलिए हमें यह सोचना चाहिए कि अहिंसा ही विश्व धर्म है।

पुराण ग्रन्थों में, शास्त्रों में उल्लेख किया गया है कि जो धर्म से स्खलित है, पथ से दूर है, उन्हें धर्ममार्ग पर लाने का प्रयास करना चाहिए। बीस साल से मैं देख रहा हूँ कि सम्यग्दृष्टि को ही उपदेश देना चाहा जा रहा है। लेकिन सम्यग्दर्शन होने के उपरान्त उपदेश देने की कोई आवश्यकता नहीं होती। जहां पर अन्धकार हो, वहां पर प्रकाश की आवश्यकता होती है। प्रकाश में यदि आप लाइट जलाते हैं तो देश को, धर्म को खतरा है सभी को खतरा है। मतलब यह हुआ कि जहां पर जिसकी उपयोगिता है वहां पर उसको करना चाहिए। दूसरी बात धर्म प्रभावना की है, तो जो पतित से पतित है, आचार-विचारों में उन्हें जाकर के गले लगाना चाहिए। आज कल तो 5-6 व्यक्ति बैठ जाते हैं। एक मीटिंग कर लेते हैं और कहते हैं कि हम अखिल भारतीय दिगम्बर समाज की कमेटी वाले हैं। ऐसी कमेटियां समाज में बहुत सारी हैं, किन्तु इन पार्टियों से कोई मतलब सिद्ध होने वाला नहीं है। जो धर्म करता है उसे सोचना चाहिए कि जो अधर्मात्मा है, जो मानव जन्म को प्राप्त करके भी भीतर की चीज को पहचान नहीं पा रहा है, उसके पास जा करके, उसकी कमियों को देख करके, उसकी आवश्यकता को पूर्ण करके उसे आकृष्ट किया जाना चाहिये।

दान के बिना अहिंसाधर्म की रक्षा न आज तक हुई है और न आगे होगी। यदि पैसे वाला, पैसे वाले को दान दे, तो कुछ नहीं होगा। जैनाचार्यों का कहना है कि जो सेठ है, साहूकार है उन्हें, गरीबों के पास जाकर के अपनी सम्पदा का उपयोग-प्रयोग करना चाहिए। भूदान, आवासदान, शैक्षणिक दान आदि-आदि जो अनेक प्रकार के दानों के विधान किये गये हैं वे आज

जैनियों के यहां से प्राय: कर निकल चुके हैं। चार दानों में, अभयदान भी हमारे यहां माना गया है, लेकिन आज तो जो दान के नाम से केवल अन्नदान या शास्त्रदान को ही समझते हैं, उन जैनी भाईयों से मेरा कहना है कि वह अभी दान की नामावली भी नहीं जानते हैं।

दान कितने होते हैं–मालूम है आपको? सर्वप्रथम कहेंगे शास्त्रदान। शास्त्रदान नाम का कोई दान नहीं है। उपकरण दान कहा गया है। शास्त्र भी एक प्रकार का उपकरण है। आज एक सज्जन ने अपने वित्त का उपयोग करके एक चैत्यालय का निर्माण किया। जिनबिम्ब का निर्माण कराया। हजारों-लाखों व्यक्तियों को जो दर्शन-दिलाने में निमित्त हुआ, वह भी उपकरण दान है। कल या परसों हमने एक बात कही थी कि जो व्यक्ति अपने दर्शन-धर्म-विचारों से दूसरों को आकृष्ट करना चाहता है। तो उसका कर्तव्य है कि उसकी कमियां क्या हैं? यह जाने। यदि बच्चा रोता है तो उसे खिलाने की आवश्यकता है या पिलाने की या खेल खिलाने की आवश्यकता है, यह जानना जरूरी है। ऐसा नहीं है कि जब वह रोने लग जाए तो उसे केवल खाना खिलायें और दूध पिलायें। किन्तु वह आपकी गोद में बैठना चाहता है और आप उसे नीचे रख दें तो उसका पेट भरा होने पर भी रोने लग जाएगा। यही स्थिति धार्मिक व्यक्तियों की हुआ करती है। इसलिए आज दिनों-दिन जैनियों की बहुत कमी होती जा रही है। आज तक कभी भी सुनने में नहीं आया कि जो व्यक्ति बिल्कुल अभक्ष्य-भक्षी है उसे भक्ष्य-भक्षी, शाकाहारी बनाने का भी कोई उपक्रम किया जा रहा है।

भारतवर्ष शाकाहार प्रधान देश माना जाता है। विश्व में कई देश हैं। उन देशों में गणना करने पर 90 प्रतिशत जनता मांसाहारी सिद्ध हुई और केवल 10 प्रतिशत ही शाकाहरी बच रही, उसमें से छुप-छुप कर मांसाहार करने वालों की बात शामिल नहीं है। आज "डायरेक्ट" खाने वाली वस्तुओं में शाकाहार जैसी कोई वस्तु नहीं रह गई है। इसलिए वर्तमान में अहिंसा को मुख्यतया देकर–अहिंसा ही हमारा धर्म है, अहिंसा ही हमारा उपास्य देव है, उसकी रक्षा करने के लिए सर्वप्रथम कदम बढ़ाना चाहिए।

आज भारतवर्ष में कई स्थानों पर अनेक प्रकार की पशु हत्याओं के माध्यम से औषधियां और सौंदर्य प्रसाधन सामग्री निर्मापित की जा रही है (बनाई जा रही है) और "इन्डायरेक्ट" रूप से आप लोग ही उसका उपयोग करते हैं। अभी सर्वप्रथम पण्डित जी ने कहा था कि यह बुन्देलखण्ड है,

लेकिन बुन्देलखण्ड में भी ऐसी हवा आने लगी हैं जहां पर अनेक प्रकार की आचार-विचार विधान की व्यवस्थाएं थी, लेकिन वहां भी ऐसी सामग्री आने लगी है। समझने के लिए साबुन को ले लीजिए। पहले साबुन को जैनी लोग नहीं बेचते थे। सिगरेट, बीडियां बगैरह भी नहीं बेचते थे। तम्बाखू की बिक्री करते थे, तो अष्टमी-चतुर्दशी को इसे भी बन्द कर दिया जाता था। सोडा-साबुन अष्टमी-चतुर्दशी और अन्य पर्वों के दिनों में उपयोग नहीं करते थे। आज के साबुन में तो अनेक प्रकार की चर्बियां आ गई हैं। साबुन में ही क्या? खाने-पीने की चीजों में भी चर्बी आ चुकी हैं, भले ही आप लोगों को ज्ञान न हो। पहले दिन ही मैंने कहा था कि "मद्य-मांस-मधु का त्याग" इस त्याग का मतलब मात्र "डायरेक्ट" सेवन त्याग से नहीं है, किन्तु ऐसी-ऐसी वस्तुएं आपके खाने-पीने में आ चुकी हैं, जिनमें बहुमात्रा में मद्य का, मांस का, मधु का पुट रहता है। इन चीजों को त्यागकर ही अहिंसा धर्म की रक्षा का सकते हैं, अन्यथा नहीं।

दूसरी बात, शिक्षाणप्रणाली भी ऐसी आ चुकी है कि आज का लड़का, जो पढ़ा-लिखा है वह हमारे सामने आकर के कहता है–महाराज! अण्डा तो शाकाहार है और दूध तो अभक्ष्य है। मांस के अन्तर्गत आता है। आप सोचिये! जीवन कितना परिवर्तित होता चला जा रहा है, अब केवल "सम्यदर्शन. .....सम्यग्दर्शन" ऐसा चिल्लाने से कोई चीज प्राप्त होने वाली नहीं है। जो व्यक्ति इन बातों को नहीं समझ रहा है, वह प्रभावना नहीं कर रहा है, बल्कि अप्रभावना की ओर जनता को आकृष्ट कर रहा है। "खाना-पीना; क्रियाकाण्ड की बात है" ऐसा कह करके टालना, एक प्रकार से अहिंसा देवता को धक्का लगाना है।

मैं कह रहा था कि आचार्य जो कि जीवन पर्यन्त तपस्या करते हैं तो उसका छठवां हिस्सा वहां के राजा को मिला करता है। भले ही यह राजा धार्मिक कार्य कुछ भी न करता हो, लेकिन रात-दिन उसकी दृष्टि में रहता है कि राजकीय सत्ता की सुरक्षा हो, अन्य देशों की सत्ता का आक्रमण न हो। यदि सत्ता पलट जाए और विदेशी आ जाए तो आप को एक घण्टे क्या, एक समय के लिए भी धर्मध्यान करने का अवसर न मिले।

आज भारतीय सेना "बार्डर" पर खड़ी है अपने शस्त्रों को लेकर। आप सोचेंगे कि इन शस्त्रों को लेना हिंसा है? लेकिन शस्त्रों को लेना हिंसा नहीं है किन्तु आप सभी के अहिंसाधर्म की रक्षा के लिए इन लोगों ने हाथों में शस्त्र ले रखे हैं। ध्यान

रक्खो, इनकी प्रशंसा, इनके गुणगान यदि करते हो तो आप अहिंसक माने जाएंगे। यह बात अलग है कि वे कैसी दृष्टि वाले हैं? हमें यह कहने की आवश्यकता नहीं, लेकिन वस्तुस्थिति तो यही है कि जिस जीव की जीवों के ऊपर उपकार करने की दृष्टि है, जीवों की पीड़ा में सुख-दुख में पूरक बनने की दृष्टि है वह सम्यग्दृष्टि है, ऐसा समझता हूँ। उस सम्यग्दृष्टि की देवता लोग भी आरती उतारते हैं। आप लोगों को इस बात का विशेष ध्यान रखना होगा कि सम्यग्दर्शन कोई खिलौना नहीं है जो बाजार से खरीद सकें अथवा समयसारादि ग्रन्थों को पढ़कर प्राप्त हो जाए और यह भी नहीं है कि मन्दिर में बैठने से या मात्र सन्तसमागम से ही वह प्राप्त होता है। किन्तु सम्यग्दर्शन की स्थिति बड़ी विचित्र है, वह कब, किसे, कैसे प्राप्त हो जाए कुछ कह नहीं सकते। क्योंकि धर्म किसी की भी बपौती नहीं है।

कुछ लोगों की धारणा होती है कि जैनधर्म, जैन जाति से सम्बन्धित है। लेकिन जाति जो होती है, वह शरीर से सम्बन्ध रखती है, जबकि धर्म का सम्बन्ध भीतरी आत्मा, भीतरी उपयोग से होता है। ऐसे ही धर्म का आदिनाथ स्वामी से लेकर महावीर भगवान् के द्वारा तीर्थ का संचालन हुआ है। आज हम लोगों के पाप कर्म का उदय है, जो ऐसे साक्षात् तीर्थंकरों का दर्शन नहीं हो पा रहा है, किन्तु आज भी उनका तीर्थं अवशिष्ट है, सच्चे देव-गुरु-शास्त्र के रूप में हमारे सामने उपस्थित है, यही सौभाग्य है।

जड़ के प्रति तो राग सभी रखते हैं और जड़ की रक्षा के लिए अपने जीवन को बलिदान भी कर देते हैं। किन्तु जो व्यक्ति चेतन-आत्मा की बात देखकर दु:खी जीवों को देखकर यदि आंखों में पानी नहीं लाता, उस पत्थर जैसे हृदय से हम कभी भी धर्म की अपेक्षा नहीं रख सकते। हमारा हृदय कोमल होना चाहिए। जिसके ऊपर ''एटमबम'' भी फोड़ दिया जाये तो भी भीतर के रत्नत्रय धर्म को सुरक्षित रख सके। राम का जीवन देख लीजिए, पाण्डवों के जीवन को देख लीजिए। उसके साथ-साथ कौरवों और रावण के जीवन को देखिये। रागी-विषयी, कषायी पुरुषों के जीवन का कैसा अवसान हुआ? किस रूप में जीवन का उपसंहार हुआ? तथा वीतरागीपुरुषों के जीवन का, धर्म की रक्षा करने वालों का क्या उपसंहार हुआ। वन में रहकर भी राम ने प्रजा की सुरक्षा की और भवन में रहकर के भी रावण प्रजा के लिए अभिशाप सिद्ध हुआ।

आज हम केवल चर्चा वाला धर्मध्यान करना चाहते हैं। लेकिन ऐसा संभव नहीं है। ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख है कि जब निर्ग्रन्थ साधु यत्र-तत्र विचरण करते हैं तो वहां के जीव आपस में बैरभाव को छोड़कर, उनके चरणों में बैठ जाते हैं। यह किसकी महिमा है? आचार्य कहते हैं-यह वीतरागता की महिमा है, प्रेम का, वात्सल्य का प्रभाव है। जीवों को देखकर हमें आह्लाद पैदा होना चाहिए, लेकिन हम कैसे हैं? हमारी दृष्टि कैसी है? जैसे कि नेवला और सर्प के बीच में हुआ करती है, बस वैसी ही है। ऐसे वातावरण में हम धर्मात्मा बनना चाहते हैं जो कि असम्भव है।

जैनधर्म की विशालता यही है कि वह व्यक्ति को जन्म से जैन न होते हुए भी उसे कर्म से जैन बनाता है। आठ साल तक वह एक प्रकार से पशुओं जैसा आचरण कर सकता है, इसके बाद यदि वह धार्मिक संस्कार पा लेता है तो, उसके जीवन में धर्म आ सकता है। चेतन की परीक्षा करने की चेष्टा करिये। कहां पर कौन दु:खी है, पीड़ित है, इसको देखने की आवश्यकता है। ऐसे फोन लगा लीजिए, कैसे फोन? बिना तार के बिना ''वायरलेस'' के ही दुखी प्राणियों तक आपका उपयोग पहुंच जाए और मालूम हो जाये कि कौन-सा जीव कहां पर पीड़ित है। कौन-से जीव को क्या आवश्यकता है। ऐसा भी कभी हो सकता है? हां, हो सकता है, एक उदाहरण दूं आपको।

एक बार की बात, एकदम हिचकियां लग गईं। एक व्यक्ति ने कहा कि पानी पी लो, पानी पियेंगे तो हिचकियां आना बन्द हो जाएगा। मैंने पूछा-ये हिचकियां आती क्यों हैं? उसने कहा-तुम्हें इस समय किसी ने याद किया होगा। दूर स्थित व्यक्ति ने याद किया वहां और हिचकियों की प्रक्रिया यहां चालू हो गई। ऐसा सुनकर मैं सोचता रहा, विचार करता रहा। इसी प्रकार धार्मिक भाव को लेकर के अपने उपयोग को भेज दो, जहां कभी भी दु:खी जीव हों, नियम से उन पर प्रभाव पड़ेगा। उन विचारों के अनुरूप कल्याण का मार्ग मिलेगा। बस ऐसा करने की चेष्टा प्रारम्भ करिये, फल अवश्य मिलेगा।

आज करोड़ों रुपया बरसाया जा रहा है, लेकिन गरीब व्यक्तियों को, पतित विचारवालों को धार्मिक बनाने का भाव किसी के मन में नहीं आ रहा है। इसलिए इस प्रकार (पंचकल्याणक महोत्सव) के आयोजनों के माध्यम से, उस प्रकार के कार्यक्रम आज से ही प्रारम्भ किये जाये। जो गरीब है,